

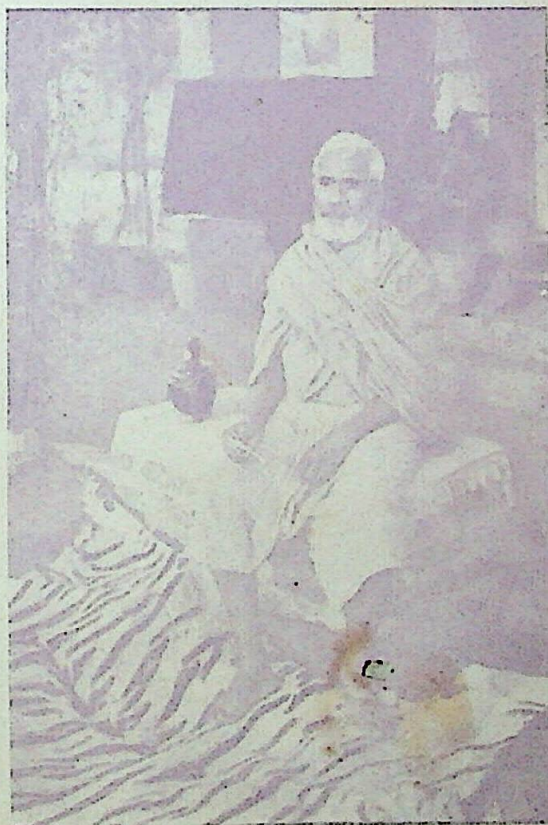
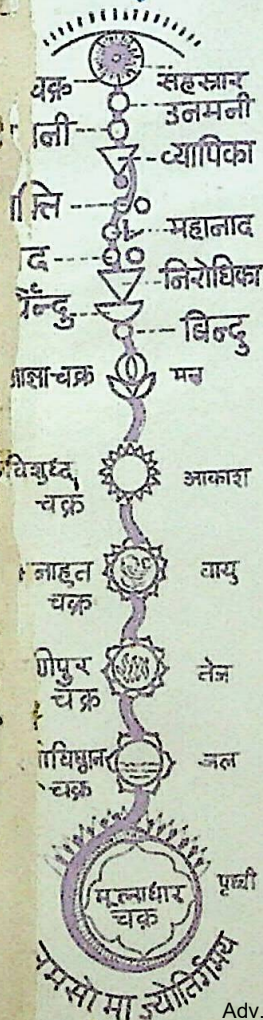
देवात्म-शक्ति

वर्ष 3

1984

देवात्मशक्ति

॥ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥



Adv. Vidit Chauhan Collection

॥ ब्रह्मलीन श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ॥

With Best

Compliments From

Shri Shivom Traders

**Dealers :- ASIAN PAINTS LTD;
&
BUILDING MATERIALS MERCHANTS**

●
—PARTNERS—

**SMT SULOCHANA S. ACHARYA
&
SHRI ASHVIN J. SHAH**



**6-ROUND BUILDING
CHOKSI PAR-JIVRAJ PARK,
AHMEDABAD-380051.**

(GUJARAT)

Tel. No. 412 953.

देवात्मशक्ति

यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ।

वर्ष : ३] १५ जनवरी-फरवरी-मार्च १९८४ [अंक : १

प्रेरणा के स्रोत

शक्तिपात प्रवर्तक श्री स्वामी नारायण तीर्थदेव जी ।

शक्तिपाताचार्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ॥

उद्देश्य :

लोककल्याणार्थ सिद्धसाधन शक्तिपात सम्बन्धी गवेषण,
अनुसन्धान एवं ज्ञातव्य-प्रकाशनादि द्वारा श्रेयपथप्रशस्ति ॥

वार्षिक शुल्क —

दस रुपये—

आजीवन सदस्यता शुल्क :

भारत में : २५१ रुपये — विदेश में : १०० डॉलर

प्रकाशन मास —

फरवरी, मई, अगस्त, नवम्बर

प्रकाशन स्थल —

स्वामी विष्णुतीर्थ शिक्षा प्रतिष्ठान

२ ए, चर्चगेट मेन्शन, 'ए' रोड, चर्चगेट, बम्बई-400 020.

Phone : 29 52-72

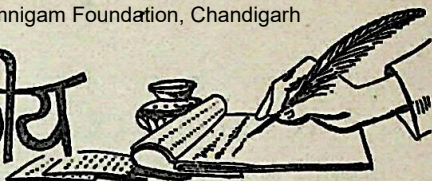
Yidit Chauhan Collection, Noida

१. सम्पादकीय
२. देवात्म शक्ति (हिन्दी अनुवाद) श्री. प्रभु दयाल मिश्र
३. जगन्माता (") ————
४. प्रवचन सुधा स्वामी श्री शिवोम् तीर्थजी
५. रामायण तत्त्व श्री. डा. ताराचन्द गर्ग
६. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब... स्वामी श्री शिवोम् तीर्थ जी
७. प्रश्नोत्तर "
८. पत्रावली "
९. आश्रम समाचार ... मंत्री—श्री नारायण कुटी न्यास
सन्यास आश्रम—देवास (म. प्र.)

❖ नियमावली ❖

१. ग्राहक सदस्यता जनवरी से ही पूरे वर्ष के लिए आरम्भ होगी। बीच में सदस्य बननेवालों को उस वर्ष के पिछले अंक उपलब्ध होंगे तो भेज दिये जायेंगे।
२. लेखकों से निवेदन है कि रचनाएं कागज के एक ही ओर पर्याप्त हाशिया छोड़कर स्वच्छ अक्षरोंमें लिखकर भेजें।
३. लेखक अपनी रचनाओं की प्रतिलिपि अपने पास रख लें। अस्वीकृत रचनाओंको वापस भेजने का प्रबन्ध नहीं है।
४. लेखों के परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, छापने अथवा व छापनेका पूरा अधिकार मुद्रक-प्रकाशक तथा सम्पादक को है।
५. पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर लिखें और उत्तर पानेके लिए डाकव्यय अवश्य भेजें।
६. पत्र व्यवहार तथा शुल्क भेजने का पता प्रकाशन स्थान है।
७. अभी तक शुल्क नहीं भेजा हो तो, कृपया सत्वर भेजिये।
८. ADVERTISEMENT का प्रबन्ध है।
९. पता बदल जाने पर शीघ्र ही नया पता लिखें।

संपादकीय



पुकारो, भगवान को पुकारो !

बचपनमें एक संत महात्मा के मुँहसे सुना था ऊपरका सूत्र । मनुष्य मुसीबतमें अपनी चारों ओर सगे संबंधियों को और मित्रों को देखता है और अक्सर निराश होता है । स्वार्थमय संसारमें स्वार्थ होता है वहाँ तक सबकुछ होता है और स्वार्थ मिटने पर कुछ नहीं होता है । ऐसी परिस्थिति में भगवान के सिवा और कोई सहारा नहीं हो सकता ।

जो मनुष्य भगवानको सबकुछ समर्पण कर देता है और समर्पण भावसे जीने की तैयारी कर लेता है उसको क्या चिन्ता । परंतु समर्पण भाव कोई आसान चीज नहीं है परंतु योगमार्ग और हठयोग और प्राणायामसे भी कठिन है । महात्मा कबीरदास की एक साखी है:-

साँई इतना दीजिये, जामें उदर समाय ।

मैं भी भूखा ना रहूँ, साबू न भूखा जाय ।

भगवानसे और कुछ उनको चाहिये नहीं ।

एक और पंक्ति भी सूनी है-

वैष्णव को चिता क्या? भगवान हमेशा उनके साथ है-आगे पीछे हरि खडे, जब मांगे तब देय ।'

भगवान को पुकारने का सबसे बड़ा उदाहरण नरसिंह महेता का है-बहुतोंको आश्चर्य होता है जब संकट पडने पर महेता भगवान को पुकारते हैं और भगवान आकर खडे रह जाते हैं ।

आज के विज्ञान के जमानेमें जिनको कुछ आध्यात्मिक अनुभव नहीं वे ऐसी चीजको चंडखान की गप्प समझते हैं । मगर भग-

वानको पुकारनेवाले के पास भगवान २४ घण्टों रहते हैं और पुकारने पर मौजूद हो जाते हैं ।

गुजराती के अच्छे कवि सुंदरम् ने एक जगह लिखा है—

देखातुं नहीं तेथी नहीं, ए वात नहीं सही मारा भाई, हम नहीं देखते इसलिए वात सही नहीं होती है ऐसा नहीं है । उल्लू (घूवड़) दिनमें देख नहीं पाता और वह कहता है कि दुनियामें सूरज जैसी कोई चीज नहीं है । मला उस अज्ञानी को कौन समझावे कि सूरज को करोड़ों लोग देखते हैं ।

नरसिंह को घरसे निकाल दिया । साथमें पत्नी भी है । भगवान की भक्ति में मस्त नरसिंह धर्मशालामें आया । भगवानसे प्रार्थना है केवल छोटासा घर, भजन कीर्तन के लिए छोटा मंदिर, साधु-संतों की सेवा के लिए योग्य सामग्री । और इन बड़े महात्मा की इच्छा पूर्ण होती है और भक्त हृदय नरसिंह सबकुछ छोड़ कर भगवान की आराधना में मस्त हो जाते हैं । नरसिंह के जीवनमें पदपदपर नरसिंहने भगवान को पुकारा है और प्रत्येक समय पर भगवानने किसी न किसी रूपमें भक्त को सम्हाला है । यह समर्पण की भावना बड़ी अदम्य है । विश्वासके साथ भगवान को पुकारो—भगवान जरूर सुनेंगे और आप उनकी उपस्थितिका अनुभव करेंगे ।

मेरा हृदय भी यही पुकार उठता है—पुकारो, भगवानको पुकारो ।

* * * *

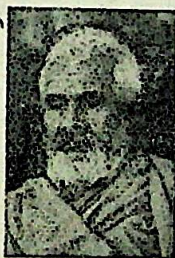


देवात्म शक्ति

लेखक :-

ब्रह्मलीन श्री श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

अध्याय - १४ - पंचोपासना.



हिन्दू धर्म की अनेक देवोपासना बहुदेववाद की प्रतीक न होकर एकेश्वरवाद के ही सिद्धांत की पोषक है। यहाँ ईश्वर के किसी पक्ष-विशेष पर जोर दिए जाने के कारण मिस्र-मिस्र नाम की उपासना पद्धतियाँ चल पड़ी हैं। सभी हिन्दू विश्वास करते हैं कि सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, समय व काल से अतीत, नाम एवं रूप के परे ईश्वर एक है। उसकी प्रतीति के लिए ही उसे कभी रूप और आकार दे दिया जाता है। मनुष्य चूंकि ईश्वर की श्रेष्ठतम कृति है इसलिए ईश्वर को अक्सर मानवीय आकार दिया गया है किन्तु उसमें विशिष्टता लाने के लिए उसकी भुजायें चार कर दी गई हैं। इस प्रकार के पंचदेव विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य की सम्पूर्ण देश में उपासना प्रचलित है।

विष्णु

विष्णु ईश्वर के सर्वशक्ति सम्पन्न सम्प्रभु स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे विश्व के संपोषक व सुख, समृद्धि और वैभव की देवी लक्ष्मी के पति हैं। विष्णु का विग्रह देदीप्त नील आकाशवत् है। यह उनके स्वरूप की मास्वर अनन्तता का बोध कराता है। उनकी चार मुजाबों में से एक में शक्तिमत्ता तथा प्रकृति की निश्चेष्ट शक्ति की प्रतीक गदा, दूसरे में भाग्य का प्रतीक कमल व तीसरे हाथ में उनकी करुणा व न्याय का उद्घोषक महाशंख है। शंख स्वस्ति कारक जल सिंचन के प्रयोजन से आशीर्वादक भी कहा जा सकता है। चौथे हाथ में विष्णु ने सुदर्शन चक्र धारण किया है जो बुराइयों का उच्छेद करता है। उनकी मुद्रा चिरहासपूर्ण है। वे पीली घोती पहनते हैं जो पृथ्वी तत्व की प्रतीक है। उनकी घवल करघनी जल तत्व की प्रतीक है, लाल नाभि अग्नि तत्व, नील हृदय वायु व उज्ज्वल मास्वरित मुख-मण्डल विराट के आकाश तत्व का परिचय कराता है। उनके मुकुट में, सूर्य, चन्द्र व तारे खचित हैं। वे सर्वोच्च गगनगामी गरुड पर विराजमान हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही उनका व्यक्तित्व है। जिस प्रकार एक सूत्र माला के दानों से माला की रचना करता है वैसे ही विष्णु सृष्टि के कण-कण को पिरोकर निखिल सृष्टि की रचना करते हैं। यद्यपि यह ईश्वर सर्व व्यापक व सर्व प्रकाशकारी है किन्तु इसका मुख्य स्थान मानवीय हृदय है व उसकी मुख्य उपासना उसके प्रति अनुराग व भक्ति ही है। “वह मूल, भविष्य व वर्तमान लोक के स्वामी हैं। उससे कुछ नहीं छपा है। उसको जानने से सभी चिन्ताओं से छटकारा मिल जाता है। वह घूम रहित प्रकाश के पुंज की तरह अंगुष्ठाकार हृदय प्रदेश में निवास करता है ऐसा उपनिषद् गायन करते हैं। प्रभु ईश भी कहते हैं कि “स्वर्ग का साम्राज्य मनुष्य के हृदय में है।” वह हृदय में रहता है, उसे हृदय में ही पाया जा सकता है।

इस प्रकार खोजे जाने पर वह हृदय में प्रकाशित व प्रतिभासित होता है।

शिव

विष्णु की ही तरह ईश्वर का शिव रूप समग्र भारत में हिन्दुओं के सभी वर्गों द्वारा पूजा जाता है। शिव अद्वैत दर्शन के आधार हैं। निखिल विश्वात्म शिव व्यक्ति के मन पर प्रतिबिम्बित होकर वैयक्तिक आत्मा बनते हैं। विश्वात्मा स्वतः ईश्वर व उसका प्रतिबिम्ब जीव है। यही जीव वासना, घृणा, क्रोध, भय, मोह, अहंकार, जन्म, मृत्यु, दुख, सुख, भूख, प्र्यास, जडता आदि से मुक्त होकर शिव बनता है। योग की प्रत्येक धारा का ध्येय जीवात्मा को शिव तक पहुँचाना है। यह सहस्रार कमल में समाधिस्थ होने की स्थिति में ही सम्भव है। योगीश्वर शिव निमिलित नयन सिंह-दर्भ पर आत्मलीन समाधि में अभिचित्रित बतलाये जाते हैं। विपैले नाग भी उनकी भुजाओं एवं गले में लपटे रहकर उन्हें नहीं डिगा पाते। शिव का नील कंठ बुराइयों के जहर को सहन करने की कसौटी है। उनके लिए घोर विष भी अमृत तुल्य है। उनकी घवल देह साँप विच्छाओं से अक्षत रहती है। एक योगी जब समाधि की अवस्था प्राप्त कर लेता है तब यह माना जाता है कि उसका सिर शिव की मुण्डमाल का एक दाना बन गया है। शिव के माथे पर स्थित आध्यात्मिक ज्ञान का तृतीय नेत्र जब किसी योगी के लिए खुलता है तब उसकी सारी कामना व वासना जल जाती है। उस समय वह प्रशांत होकर शंकर बन जाता है। जब शंभु समाधिसे जागते हैं तब अपनी प्रकृति के साथ उल्लास में आकर डमरू, त्रिनाद पर तांडव नृत्य करते हैं। वे बैल पर सवारी करते हैं जिसका अर्थ यह है कि समाधि की अवस्था में पहुँचा हुआ एक व्यक्ति अपने अन्दर के यशुत्व, जडता, वासना व मूढता

को विजीत कर लेता है। शिव को इसीलिए पशुपति कहा गया है। एक मनुष्य जो समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है अपने सहस्रार में स्थित आध्यात्म व ज्ञान की गंगा के प्रवाह से समस्त मानवता को स्नात करा उठता है। शिव जटाधारी हैं। वे बर्फ से ढंकी हुई हिमालय की तिब्बत में स्थित कैलाश श्रेणी में निवास करते हैं जहाँ मानसरोवर के दर्शन मात्र से मनुष्य आध्यात्मिक व प्राकृतिक आल्हाद से भर उठता है।

एक योगी के लिए उच्च शिखर कैलाश सहस्रार कमल है व उसका नीरव निस्तब्ध मन सुन्दर मानसरोवर है। चूँकि पूर्ण ज्ञान गहन ध्यान से उत्पन्न होता है इसीलिए शिव को विज्ञान, गणित व दर्शन का आदि देव कहा गया है। वे एक योगी के हृदय में प्रतिभाषित होते हैं व उसे निरन्तर गहन ज्ञान के सागर में ले जाते हैं। वे ही मानव मात्र के हृदय और मस्तिष्क में निवास करने वाले सच्चे गुरु हैं।

शक्ति

शिव की शक्ति जो मनुष्य मात्र में परामानसिक चेतना के रूप में प्रज्वलित है, एक योगी को शिव तक पहुँचाती है। हठ योग के ग्रन्थों में इस शक्ति को कुण्डलिनी शक्ति या सर्प शक्ति कहा गया है। यह शक्ति विराट ब्रह्म की वैश्विक शक्ति है जो सभी चेतन प्राणियों में प्रतिभाषित है व उनके मन मस्तिष्क एवं शरीर के माध्यमों से प्रकट होती है। यह शक्ति रचना विकास व उन्नति की द्योतक है किन्तु साधारणतः यह मनुष्य में प्रसुप्त रहती है। जैसे कि पिछले अध्यायों में बताया गया है इसे परामानसिक चेतना के रूप में जगाया जा सकता है। हिन्दू धर्म में तांत्रिक व योगिक पद्धतियों के अन्तर्गत शक्ति उपासना का महत्वपूर्ण स्थान है। इस पद्धति

में ईश्वर की मातृरूप में उपासना की जाती है। वे आध्यात्मिक विकास के मार्ग की सभी बाधाओं व बुराइयों को दूर करती हैं व साधक को ईश्वर साक्षात्कार की ओर ले जाती हैं। दूसरे शब्दों में शक्ति की सहायता से आत्मा शिव से मिल पाती है। शक्ति को सिंह पर सवार बताया गया है। यह सिंह शक्ति, साहस, महत्ता व गुस्ता का प्रतीक है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि कुण्डलिनी जागकर योग-सिंह पर सवारी करती है। इससे साधक कभी-कभी सिंह जैसी गर्जना करता है। वह साधक की कमजोरियों को खाता है। शक्ति अपने अनन्त अस्त्रों द्वारा पशु वासनाओं का संहार करती है। क्योंकि ये मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बाधक हैं। भारत के कुछ भागों में देवी की प्रसन्नता के लिए बलि चढ़ाई जाती है किन्तु दुर्भाग्य से ये उपासक यज्ञ का सही अर्थ नहीं समझ रहे हैं। वे योगाग्नि में अपनी वासनाओं की देह की बलि नहीं चढ़ाकर निर्दोष पशुओं की हत्या करते हैं। शक्ति को आगे जड़, क्रियमाण व निश्चेष्ट आदि तीन रूपों में प्रकट किया जाता है। जब वह समाधि की स्थिति में पहुँचकर शिव से मिलती है तब श्रुतमंरा प्रज्ञा नाम की पराचेतना जागती है। इसे प्रतिमा अथवा आध्यात्मिक प्रकाश भी कहा जाता है। यह ईश्वर साक्षात्कार के पूर्व का उपाकाल कहा जा सकता है।

गणपति

गणपति जो शिव और शक्ति के मिलन रूपी समाधि से उत्पन्न होता है, प्रातिम ज्ञान रूप गणपति है। गणपति का मुख हाथी का बताया जाता है जो कि सर्वोच्च विकसित ज्ञान का प्रतीक है। किन्तु साधक ही साधक जिससे मानवीय धरातल भी नहीं छोड़ा है। प्रातिम ज्ञान के होते ही गणपति की दो

पत्नियां रिद्धि व सिद्धि अर्थात् अलौकिक शक्तियों का प्राकट्य होता है। गणपति चूहे पर सवारी करते हैं। वे इस तरह गैर-रचनात्मक आलोचना की परवाह नहीं करते क्योंकि इससे आध्यात्म का विकास हो सकता है। चूहा मन की चंचलता को प्रकट करता है जिस पर साधक का नियंत्रण जरूरी होता है। किसी भी कार्य को आरंभ करने के पहले गणेशजी की पूजा की जाती है इसका कारण यह है कि वे ईश्वर के विवेक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सूर्य

पंचदेवों में सूर्य ऐसे देवता हैं जिनकी बहुसंख्य हिन्दू उपासना करते हैं। सूर्य रूप में ईश्वर ब्रह्माण्ड की भौतिक व आध्यात्मिक शक्तियों का स्रोत है। भौतिकता से परे सूर्य प्रकाश का भी प्रकाशक "ज्योतिषामपि तज्योति" ईश्वर है। वह समस्त सृष्टि के आदि स्रोत हैं।

ईश्वर समर्पण

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज

अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।"

(सभी चेष्टाओं को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। तू चिन्ता न कर मैं तुझे सभी पापों से मुक्त करूंगा।)

भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा गीता में दिया गया यह आश्वासन इस्लाम व ईसाई धर्म सिद्धांतों के बहुत निकट है। इन धर्मों में अनुयायियों से देवदूतों ने पूरी निष्ठा रखने के लिए कहा है व उन्हें सभी पापों से मुक्त करने का आश्वासन भी दिया है। कृष्ण कोई देवदूत न होकर साक्षात् परब्रह्म हैं। हिन्दुओं के अनुसार पूर्ण आस्था व विश्वास एकमात्र ईश्वर में ही प्रकट

की जा सकती है। जबकि इस्लाम व ईसाई धर्मों में देवदूतों को ईश्वर के आवश्यक माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है।

ईसाई व इस्लाम धर्मों के अनुसार देवदूतों में विश्वास न रखने वाले व्यक्ति दैवी आशीर्वाद से वंचित रहते हैं। गीता के अनुसार ईश्वर में विश्वास करने वाला हिन्दू या मुसलमान कोई भी व्यक्ति मुक्त होता ही है। हिन्दू धर्म इसप्रकार अपने सिद्धांतों में आस्था, दर्शन व उपासना पद्धतियों की विभिन्नताओं के बावजूद भी अधिक उदार है।

अनुवादक :- श्री. प्रभु दयाल मिश्र

जगन्माता

ब्रह्मलीन श्री श्री १०८ स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज

प्रयुञ्जती दिवएति ब्रुवाणा महीमाता दहितुर्वेधियन्ती
आविवांसन्ती युवितिर्मेनीषा पितृभ्यया सदनं जो हुवाना

(ऋग मण्डल ५, ४, ४७, १)

"जगन्माता देव लोक से अपनी दुहिता को पुकार कर जगाती हुई आ रही है। वह युवा मूर्ति उन साधकों के धाम जाती है जो उसे पूर्वजों के समय से बुद्धिपूर्वक ध्याते आ रहे हैं"

(मण्डल ५, अध्याय ४ सूक्त ४७, ऋचा १)

यह ऋग्वेद के ऋषि का गीत है। निश्चित ही यह जगन्माता और कोई न होकर आदि शक्ति है - निराकार सर्वशक्तिमान की प्रथम साकार छवि यह शक्ति ही उमा, दुर्गा, काली, श्री आदि नामों से जानी जाती है। वैदिक साहित्य में उसे अदिति कहा गया है जो सूर्य तथा अन्य देवताओं की जननी है। वही तंत्रों की शुद्ध विद्या और उपनिषदों की ब्रह्म विद्या है। स्वभाविक रूप से उसकी पुत्री साधक की सुप्त चेतना है। वह शास्त्र विधि से मंत्रों द्वारा मनीषियों के जगाए जाने पर जगती है। वह चिरयुवा जगत् मातृशक्ति अपने साधक की देह में विराजती है व उसमें आध्यात्मिक प्रकाश का प्रादुर्भाव करती है। कठोपनिषद में उसे सभी प्राणी मात्र की प्राण शक्ति कहा गया है। (कठ २, १, ७) यजुर्वेद (अध्याय २५ सूक्त २३ में) कहा गया है कि स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी, माता, पिता, पुत्र, विश्वदेवता, पंचायतन, (पांचदेव) जो पैदा हुए हैं वे आगे होंगे आदि सभी अदिति हैं। कठोपनिषद ने भी यह घोषणा की है कि विश्व में जो कुछ भी है, प्राण का ही स्पन्दन है। अदिति ही प्राण का प्रतिरूप है।

करुणा का प्रभाव साधक की चेतना, बुद्धि व निद्रा आदि नाना प्रकार की वृत्तियों पर पड़ता है। वह रहस्यपूर्ण दिव्य अग्नि साधक के स्थूल व सूक्ष्म शरीरों से आविर्भूत करती हैं।

या देवी सर्व भूतेषु मायेति शब्दिता नमस्तस्यै-३

"" "" चैतनेत्यभिधियते—""—नमोनमः

"" "" बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, शक्ति, तृष्णा क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, लक्ष्मी, कान्ति, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ, भ्रांति रूपेण संस्थिता नमस्तस्यै ३ नमोनमः।

ऋग्वेद के ऊपर उल्लेखित सूत्रसे ये यह कहा गया है कि बुद्धिपूर्वक आराधना करने से माता साधक पर कृपा करती हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि साधक को अध्यात्म विज्ञान में कुशलता प्राप्त गुरु से दीक्षा प्राप्त करना चाहिए। यह अच्छी तरह से समझ लेना जरूरी है कि बिना सही दीक्षा के आराधक कोई प्रगति नहीं कर सकता। इस संबंध में हम अथर्ववेद से एक सूत्र उद्धृत करते हैं।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह

अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेघा दवातु मे।

(अथर्व का। सूक्त ४३ मं।)

(दीक्षा व तप के सहारे जहां पर ब्रह्म के साधक जाते हैं ज्ञान की अग्नि मुझे वहां ले जाये।)

व्यक्तिगत धरातल पर चेतना समष्टि स्रोत से प्राप्त होती है। वह इस प्रकार अपने मूल से जुड़ी रहती है व इसीलिए उसे पुत्री कहा गया है। भौतिक स्तर पर चेतना सांसारिक, क्षणिक भोगों में विनष्ट होती है जिससे हम दुख व पीड़ाओं को मोल लेते हैं। जब एक मनुष्य सांसारिक द्वन्द्वों से खिन्न होकर शान्ति की खोज में अपनी अन्तरात्मा में झांकता है तब उसे अब तक अज्ञात आशांति के स्रोत की आभा तक होता है।

इसके प्रश्नात ही वह आह्लादपूर्ण नई शक्ति से साक्षात्कार कर उसका अनुग्रह प्राप्त करता है। व्यक्ति में अब तक प्रसुप्त चेतना विकास पथ पर जागृत हो जाती है। विकास का आशय माया के आवरणों को हटाना न होकर विश्व की सर्जनात्मक चेतना के प्रति अभिमुख होना है।

जगन्माता देवलोक से प्रति सुबह उदित होकर अपने बेटों को जगाती है।

उत्तिष्ठत मा स्वप्न अग्निमिच्छध्वं भारताः ।

राज्ञः सोमस्य तृप्तासः सूर्येण सधुजेषसः

(भारतभूमि के पुत्रो जागो, सोओ नहीं) ज्ञान के लिए इच्छा करो, सोम राजा से अपनी इच्छा की तृप्ति करो व उषाकालीन सूर्य से संवाद करो। इसी तरह ज्ञान, शांति तथा क्षमता प्राप्त करो। इस संदर्भ में अग्नि, सोम व सूर्य क्रमशः ज्ञान, मन, व प्राण के देवता हैं।

(हिंदी रूपांतर प्रभुदयाल मिश्र)

याद रखें :-

समयावधि में इस पत्रिका का शुल्क भेजना, अपनी परंपरा की एक प्रकारकी सेवा और साधना ही है।

प्रवचनसुधा



—स्वामी श्री शिवोम् तीर्थ जी

दिनांक १८-७-८३ को देवास में दिए गए प्रवचन का सारांश :

जैसा कि आप योगवासिष्ठ में सुनते चले आ रहे हैं कि श्री रामचन्द्रजी ने बड़े वैराग्य एवं ज्ञानपूर्वक अपने पक्ष का प्रतिपादन किया तथा बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था को दुःखपूर्ण दर्शाया। जगत के प्रत्येक विषय एवं परिस्थिति को अस्थिर एवं मिथ्या कहा। इसीमें कल्याण सुझाया कि जगत के विषयों एवं परिस्थितियों का पूर्णतया त्याग कर, भगवान् के भजन में मन लगाया जाए। इसी में सार है। श्रीरामचन्द्रजी को विषाद हुआ, अवतार को वैराग्य नहीं होता। वैराग्य तो संसारी जीवों को होता है। किन्तु



अवतार जगत् के कल्याण हेतु अवतारित होता है। अतः कई बार अवतार स्वयं अपने उपदेशों अथवा कायसि संसारी जीवों को उपदेश करता है तथा कई बार अज्ञानी का अभिनय कर किसी अन्य महापुरुष, महर्षि अथवा विरक्त के मुख से उपदेश सुनकर, जगत के कल्याण का माध्यम बनता है। यहाँ योगवासिष्ठ में भी रामचन्द्रजी इसी प्रकार विषाद का अभिनय करते हैं तथा श्रीवशिष्ठजी के उपदेशों का निराकरण करवाकर जगत को ज्ञान उपलब्ध कराने हेतु बनते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने अपना वैराग्यपूर्ण पक्ष अत्यन्त विवेकयुक्त होकर प्रस्तुत किया, जिसे समासदों, देवताओं एवं ऋषियों ने श्रवणकर रामचन्द्रजी को साधुवाद कहा; किन्तु रामचन्द्रजी एक मूल करने का अभिनय कर गए, ताकि वशिष्ठजी जगत् को वास्तविक अध्यात्म का मार्ग समझाने का हेतु बने। इन उपदेशों को केवल मात्र रामचन्द्रजी ही श्रवण करनेवाले नहीं थे अपितु पूरा राजदरबार, महिलाओं, पुरुषों, समासदों एवं ऋषियों से ठसाठस भरा हुआ था। अर्थात् रामचन्द्रजी माध्यम बनकर जगत् को उपदेश सुनने का तथा मूल सुधार करने का अवसर प्रदान कर रहे थे, ताकि संसार में वास्तविक मार्ग को पहिचानकर उचितमार्ग का अनुसरण कर सके — रामचन्द्रजी ने जगत् के विषयों एवं भोगों को सारहीन बतलाया तथा विषयों को त्यागकर एकान्त निर्जन स्थान में बैठकर भगवान का भजन करने का अपना संकल्प दोहराया किन्तु रामचन्द्रजी यहां ये मूल कर गए कि जीव के चित्त में संस्कार एवं वासनाएँ संचित हैं, जिनके कारण प्रारब्ध-वशात् मनुष्य के अभिमुख सुखदुःख, भोग-उपभोग, अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। अतः मनुष्य उन परिस्थितियों इत्यादि से अपने चित्त को प्रभावित कर आसक्ति युक्त हो जाता है; एवं कर्तृत्वाभिमानयुक्त होकर प्रस्तुत परिस्थितियों का मनोकूल परिणाम प्राप्त करने के लिए कर्म करता है। वस वही मनुष्य मूल कर जाता है! क्योंकि आसक्तियुक्त कर्म एवं कर्तृत्वाभिमानयुक्त, संस्कार संचय का कारण बनते हैं, बंधन का कारण है। जब तक चित्त में संस्कार, वासनाएँ रहती हैं कर्तव्य, अकर्तव्य की भावना रहती है, विषयों के प्रति आसक्ति रहती है, एवं अनुकूलता प्रतिकूलता का भाव रहता है तब तक जीव जगत् एवं विषयों का त्याग करते में असमर्थ रहता है और यदि बलात् निवृत्ति का मार्ग अपनाते हुए, विषयों का त्याग कर देता है; तथा कहीं एकान्त में जाकर साधन नहीं चालीन हो जाता

है तो वह अधिक समय तक ऐसा कर पाने में सक्षम नहीं हो पाता। या तो वही अपना संसार बसा लेता है अथवा अपने संसार में पुनः लौट आता है।

अध्यात्म का मार्ग भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग अथवा कोई भी अन्य प्रकार का योग कर्म से ही आरंभ होता है। ये बात सामान्य संसारी जीवों पर लागू होती है। लाखों में कोई एकाग्र अपवाद ऐसा है जिसे कर्म करने की आवश्यकता नहीं हुई हो तो वह अलग बात है। अन्यथा संसारी जीवों को कर्ममेंसे होते हुए, अध्यात्म की ओर बढ़ना होता है। निवृत्ति का मार्ग प्रवृत्ति में से होकर जाता है, क्योंकि जीव के चित्त में जगत् के प्रति आसक्ति आकर्षण आदि के संस्कार होते हैं। एवं जगत् में कर्तव्य अकर्तव्य का भाव होता है। यदि गीता को ध्यान से पढ़ने, समझने का प्रयत्न किया जाय तो गीतोक्त सभी मार्ग कर्म से ही आरंभ होते हैं। जैसे जैसे चित्त शुद्ध होता जाता है, वैसे ही वैसे कर्म पीछे छूट जाता है एवं भक्ति, कर्म अथवा ज्ञानयोग बढ़ते चले जाते हैं।

जब तक चित्त को साधनानुकूल योग्यता प्राप्त नहीं हो जाती; तब तक जीव एकाग्र चित्त हो कर साधना में तल्लीन नहीं हो सकता। क्योंकि उसका चित्त, संस्कारों के कारण चंचल रहता है। ये चंचलता संस्कारक्षय वासना-क्षय होने के उपरान्त हो जाती है। जिसके लिये संस्कारों, वासनाओं, इच्छाओं एवं विकारों का दूर होना अनिवार्य है। चित्त की साधनानुकूल ये अवस्था प्राप्त करने का उपाय गीता में '१८' अध्याय में भगवान इस प्रकार बतलाते हैं। यथा—

अहंकार बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८-५३

अर्थात् जब तक चित्त में से अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध

सब जलकर भस्म नहीं हो जाते तथा उसके स्थान पर चित्त निर्मम अर्थात् ममता रहित शान्त नहीं हो जाता तब तक चित्त की भूमिका भगवान का भजन करने योग्य निर्मित नहीं होती । अतः प्रश्न यह नहीं कि जगत् के विषय त्याग्य है अधिक आवश्यकता इस बात की है कि अपने चित्त में जगत् के विषयों के प्रति अपने चित्त में विद्यमान आकर्षण, आसक्ति एवं विकारों को शान्त किया जाय, कर्तव्य, अकर्तव्य की भावना को समाप्त किया जाय तथा अपने द्वारा किये गये कर्मों के प्रति अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का भाव समाप्त कर अपने चित्त में जगत् के प्रति आसक्ति को निर्मूल किया जाय तभी कहीं जाकर मनुष्य को ज्ञान, योग, भक्ति, अथवा उपासना इत्यादि की योग्यता प्राप्त होती है, तभी मनुष्य को मनवांछित आध्यात्मिक फल प्राप्त होता है ।

वशिष्ठजी रामचन्द्रजी को समझाते हुए कहते हैं कि मनुष्य जो भी सुख अथवा दुःख प्राप्त करता है, वह सब अपने कर्मों के अधीन ही करता है । अतः आज का पुरुषार्थ का कल प्रारब्ध होता है । शुभ कर्म करने पर शुभ संस्कार, और अशुभ कर्म करने पर अशुभ प्रारब्ध निर्मित होता है । शुभ प्रारब्ध से सुख तथा अशुभ प्रारब्ध से दुःख की उपलब्धि होती है । जब जीव को सुख प्राप्त होता है तब वह उस सुखका श्रेय अपने भ्रम अथवा योग्यता को देता है, किन्तु जब उसे दुःख होता है तब दैव को मला बुरा कहता है । जब कि दैव कुछ और नहीं अपने किये हुए कर्मों का समूह एवं प्रारब्धमात्र हैं ।

ईश्वर न किसी को सुख देता है न किसी को दुःख देता है । जो जैसा कर्म करता है, वैसा फल प्राप्त करता है । ये जो मनुष्य इस प्रकार की भावना करते हैं कि जो कुछ करता है ईश्वर ही करता है । मनुष्य कुछ नहीं करता किन्तु ईश्वर शक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता । कई बातें तार्किक दृष्टिसे ठीक न

होते हुए भी साधकों को इस प्रकार की भावना करना लाभप्रद होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से हितकर होता है। इस भावना से साधकों को कर्तृत्वाभिमान गलित होने में अत्यंत सहायक है क्योंकि कर्तृत्वाभिमान, संस्कारों के संचित होने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब मनुष्य शक्ति को अपनी शक्ति मानता है और जिसके कारण उसमें कर्तापिन का भाव उदय हो जाता है तो अपने कर्म अथवा कर्तव्य को तो वह अपना मानेगा ही और फिर कर्म का फल अपने मन के अनुकूल चाहेगाही तथा इस प्रकार कर्मचक्र घूमेगा ही। किन्तु जब साधक सब कुछ भगवान पर छोड़कर उसे कर्ता मानता है तब स्वतः ही कर्मचक्र घूमने का क्रम स्तंभित होने लगता है एवं साधक का चित्त धीरे धीरे शूद्ध होना आरंभ हो जाता है।

आगे चलकर वशिष्ठजी, रामचन्द्रजी को उपदेश करते हुए कहते हैं कि यदि पूर्व जन्म में उत्तम कर्म किया है तो उसका फल सुख होता है तथा वही बली होता है और उसकी विजय होती है। यदि पूर्व का दुष्कृत्य बली होता है और इस जन्म में शुभ कर्म कर और शास्त्रों को विचारे और सुने तथा तदनुकूल आचरण करे तो निश्चय ही वह पूर्व के संस्कारों को जीत लेगा।

यहाँ पर वशिष्ठजी के कहने का भाव यह है कि यदि चित्त में शुभ संस्कार उदय होते हैं तो उसका प्रभाव मनुष्य की वासना, वृत्ति संकल्प विकल्पात्मक मन एवं कर्म पर पड़ता है। तथा ये सभी शुभ हो जाते हैं। और यदि मनुष्य के अशुभ संस्कार उदय हो उठते हैं तो उस प्रारब्ध के कारण होनेवाले सुख-दुःख, मानापमान एवं अनुकूलता प्रतिकूलता में अपने चित्त की संतुलित अवस्था बनाये रखकर भोग लेता है तथा आगे से शुभ कर्म करने का निश्चय करता है तो उस अवस्था में शुभ कर्मों के नीचे चित्त में

शुभ संस्कार अथवा प्रारब्ध दब जाता है एवं अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता ।

यहाँ समझने की बात यह है कि जब तक जीव, शुभ, अशुभ कर्म करता रहेगा तबतक उसके चित्त में शुभ, अशुभ संस्कार भी संचित होते रहेंगे एवं जीव तदनुसार सुख अथवा दुःख भोगता रहेगा, किन्तु वशिष्ठजी तो जीव के कर्मचक्रको जो कि शुभाशुभ संस्कार संचय द्वारा चलता रहता है, तोड़ने का मार्ग बतलाना, समझाना चाहते हैं । शुभ कर्म अथवा शुभ संकल्प मात्र चित्त में अशुभ संस्कारों एवं वासनाओं को दवाने के लिए होता है । साधक का अंतिम लक्ष्य तो कर्म को आसक्ति एवं कर्तृत्वामिमान से हटाकर आसक्ति रहित, कर्तृत्वामिमान से रहित कर्म करने का होता है जिससे जीव या मनुष्य, कर्म करता हुआ भी अकर्मि रह सके, उसके संस्कारों का संचय रुक जाय और चित्त की शुद्धि या संस्कारक्षय का क्रम आरंभ हो जाय , उसके लिए साधकों को कर्मत्याग की आवश्यकता होती है । अर्थात् कर्म के द्वारा ही कर्म चक्र को तोड़ना होता है । इस हेतु साधक को अपने कर्म के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करने की आवश्यकता होती है । अतः जहाँ मनुष्य पहिले अपने लिए कर्म करता है ' वहाँ दृष्टिकोण एवं भावना की परिवर्तित अवस्था में भगवान के लिए कर्म करता है । कर्तव्यबुद्धि से कर्म करता है । जिससे उसकी चित्त-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाता है एवं धीरे धीरे उसका कर्मचक्र टूटने लगता है । चित्त में पूर्व संचित संस्कारों को क्षीण करने के लिए भक्ति, ज्ञान, योग इत्यादि सहायक होते हैं । और जो कि संस्कारों को क्षीण कर उन्हें पुनः उदार होने से रोकते हैं ।

यदि मनुष्य पापकर्म अथवा अशुभ कर्म करे तथा उसके पश्चात् एक शुभ कर्म करे तो दोनों कर्म एक दूसरे के विरुद्ध होने पर भी दोनों नष्ट नहीं हो जाते अपितु दोनों स्वतंत्र रूप से अपना

अपना फल देते हैं। जहाँ अशुभ कर्म दुःखकारक होता है वहीं शुभ कर्म मनुष्य को सुखी करता है। किन्तु एक बात अवश्य है कि शुभ कर्म करने पर मनुष्य को पाप कर्म से हटने का एक सुअवसर प्राप्त हो जाता है। यदि मनुष्य इस सुअवसर का लाभ उठाए तो उसके द्वारा किये जानेवाले शुभ कर्मों का क्रम आरंभ हो जाता है जिससे उसके चित्त में संचित अशुभ कर्म दब जाते एवं मनुष्य को चित्त की ऐसी संतुलित अवस्था प्राप्त होती है जिससे अशुभ कर्मों का फल, दुःख भी, चित्त को शान्त, गंभीर एवं हँसमुख रखता हुआ, भोग कर समाप्त कर देता है तथा चित्त पर किसी भी प्रकार के विपरित संस्कार संचित नहीं होने देता।

× × × ×

परमपूज्य सद्गुरु महाराज स्वामी श्री शिवोम् तीर्थजी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहने के कारण उनका प्रवास कार्यक्रम रद्द किया गया है तथा विश्वामार्थ वे अब योग श्री पाठ ऋषिकेश में विराजमान हैं।

× × × ×

देहामिमानं परिहृत्य दूरा,

दात्मान मात्यन्त व लोकयन्तः ।

अहर्निशं ब्रह्मणि ये रमन्तः,

कौपीनवन्तः खलु माग्यवन्तः ॥ रे ॥

अर्थ — देहामिमान को दूर से ही छोड़कर, अपनी आत्माको अपनेमें ही देखते हुए रात-दिन ब्रह्म में ही रमण करनेवाले कौपीनधारी ही माग्यवान् हैं।

रामायण तत्त्व

(गतांक से आगे)

लेखक :- डॉ. ताराचन्द्र गर्ग

श्री हनुमान जी द्वारा श्री सीता जी की खोज :-

शरीरस्थ मूलाधार चक्र अंधकारमय है वहां ज्ञान का प्रकाश नहीं होने से मनुष्य इन्द्रिय सुख एवं सांसारिक प्रवृत्तियों में उलझा रहता है, वहां अहंअथवा अज्ञान का साम्राज्य है। मूलाधार में ही कुण्डलिनी शक्ति निद्रित अवस्था में रहती है, अर्थात् वह वहां कैद है। यह मूलाधार ही वह लंका है जिसमें श्री सीता रूपी भागवती कुण्डलिनी रह रही है, किन्तु वहां रहने पर भी यह ज्ञान शक्ति अज्ञान रूपी रावण से अलग ही रहती है।

इस लंका तक पहुँचने के लिये समुद्र को पार करना पड़ता है। स्वाधिष्ठान स्थिति जल तत्त्व ही वह समुद्र है। स्वाधिष्ठान चक्र में काम शक्ति का निवास होने से स्वाधिष्ठान को वैधन नहीं किया जाता क्योंकि स्वाधिष्ठान चक्र के जागृत होने से काम शक्ति का विकास होता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राण वायु की सहायता से ही कुण्डलिनी का उद्बोधन होता है, यही श्री पवन सुत द्वारा श्री सीता जी की खोज है।

जब कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन होता है, तो मूलाधार में प्राणवायु के निरोध के कारण उष्णता बढ़ जाती है क्योंकि शरीर के पार्थिव अंश को सुखाने लगती है यही लंका दहन है। इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिये श्री रामायण की सीता एवं लेखक के सौभाग्योद्यम ग्रंथ का अवलोकन करें। यहां हम केवल दिशा निर्देशन हेतु संक्षेप में

सब बातों का निरूपण कर रहे हैं। यदि समय मिला तो भगवत प्रेरणा होने पर इन सब का विशद रूप से प्रतिपादन करेंगे।

भगवती कुण्डलिनी शक्ति ब्रम्ह में लीन होने को अत्यन्त आतुर है, परन्तु उनके मिलन में बाधा है अज्ञान अथवा तमोगुण रूपी रावण इसके नाश होने पर वह भगवती कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार को त्याग कर परब्रम्ह में लीन होगी। तमोगुण के प्रबल साथी है आलस्य, निद्रा, मिथ्याज्ञान अथवा अपरविद्या आदि। आलस्य ही कुम्भकर्ण है एवं मिथ्या ज्ञान ही मेघानाद है जिनसे हमारे मन को जीत लिया है। मन का अधिदेवता इन्द्र होने से वह इन्द्रजीत है।

तमस्त्वज्ञानं विद्धि मोहनं सर्वदेहीनाम् ।

प्रमादालस्य निद्रामिस्तनिबन्धनाति भारत । गी. १४-९

जिस समय तमोगुण की वृद्धि होती है उस समय सत्व का पूर्ण अभाव नहीं होता यद्यपि उसमें न्यूनता आ जाती है। यह सत्व का न्यून अंश ही विभीषण है जो बार बार रावण को अच्छी सीख देता है। इस तमोगुण ने हमारी बुद्धि को अपने वश में कर रखा है यह बुद्धि ही मंदोदरी है जो रावण रूपी अज्ञान को ज्ञान की शरण (भगवान की शरण) में जाने को प्रेरित करने की चेष्टा करती है परन्तु, तमोगुण आधिक्य से हम बुद्धि की बातों को नहीं मानते।

श्री रामका समुद्र विजय :- श्री राम को लंका में प्रवेश के पूर्व समुद्र पार करना होता है।

योगारूढ होने से पूर्व ब्रम्हचर्य का पालन आवश्यक है। ब्रम्हचर्य पालन के लिए स्वाधिष्ठान चक्र पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है इसके उपरान्त ही हम मूलाधार में प्रवेश कर योगाग्नि प्रकट कर कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन कर सकेंगे। स्वाधिष्ठान चक्र जल तत्व का स्थान है। श्री राघव का समुद्र विजय हमें यही बता रहा है।

श्री राम रावण युद्ध:- राम रावण का युद्ध भिन्न आचारों का प्रबल

संघर्ष है। यह सात्विक एवं तमोगुणी वृत्तियों का संघर्ष है जो हमारे मन में हर समय चलता रहता है इसे ही दैवी एवं आसुरी सम्पत्ति का संघर्ष कहा है, यही सारतीय वाङ्मय में दैवासुर संग्राम के रूप में भी वर्णित है। जब हम श्री राम एवं रावण के चरित्रका अध्ययन करते हैं तो दोनों को ही भगवान् शंकर के अनन्य भक्त, विद्वान्, अत्यन्त बलवान् तथा उत्तम कुल में उत्पन्न पाते हैं। दोनों ही राज्य पद के योग्य हैं। परन्तु श्री राम सतोगुण के मूर्त रूप हैं एवं रावण तमोगुण का। इन दोनों 'भावों' का परस्पर संघर्ष ही यह युद्ध है—

ब्रह्मदारण्यक उपनिषद् की श्रुति कहती है—

द्वया ह प्राजपत्या दैवाश्चासुराश्च ।

ततः कानीयसा एवं दैवा ज्यायसा ॥

असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्ति ।

(अध्याय १ ब्राम्हण ३ ऋचा-१)

इस पर भाष्य करते हुये भगवान् श्री शंकराचार्य लिखते हैं—

शास्त्रजनितकर्मभावितान्द्योतनादेवाभवन्ति । त एव स्वाभाविकः प्रत्यक्षानुमान जनित दृष्ट प्रयोजन कर्म ज्ञान भविता असुराः । त्वैष्वासुपु रमणात् सुरैर्म्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात् ।

देवाणां च सुराणां च वृत्युद्भवामिभवो स्पर्धा । कदाच्छिद्वाश्च जनित कर्म ज्ञान भावनारूपा वृत्तिः । यदा चोद्भवति तदा दृष्ट प्रयोजना प्रत्यक्षानुमान जनित कर्म ज्ञान भावनारूपा तेषामेव प्राणानां वृत्तिरा सूर्याभिभूयते । स देवानां जयोऽसुराणां पराजयः । कदाचित्द्विपर्ययेण देवानां वृत्तिरभिभूयत आसूर्याः उद्भवः । सोऽसुराणां जयो देवानां पराजयः एवं देवानां जये धर्मं भूयस्त्वादुत्कर्षं आ प्रजापतित्व प्राप्ते । असुरजयेऽधर्मं भूयस्त्वादयकर्षं आस्था वरत्वं प्राप्तेः । उभय साम्ये मनुष्यत्व प्राप्तिः ।

इस समर में तमोगुण के मुख्य सहायक हैं आलस्य एवं मिथ्या ज्ञान । मिथ्या ज्ञान अत्यन्त प्रबल है। मनुष्य परीक्षासे जीतना अत्यन्त

धुंकर है। ये दोनों ही कुम्भकर्ण एवं मेघनाद हैं। मेघनाद इन्द्रजीत है। मन का अधिष्ठाता इन्द्र है, मिथ्या ज्ञान ने हमारे मनको जीत लिया है इस को हराने के लिये हमें विवेक की आवश्यकता होती है बिना विवेक के हम इस पर विजय नहीं पा सकते। श्रीलक्ष्मण (विवेक) ही मेघनाद को हरा सकते थे।

रावण वध — रावण के वध करने के लिये श्री राम को सबसे पहले शक्ति साधना करनी पड़ती है और उसके उपरान्त विभीषण की सहायता से रावण की नाभी में स्थित अमृत कुण्ड का ज्ञान प्राप्त कर अग्निबाण से उसका शोषण कर रावण के सिर काटकर उसका वध करते हैं।

जीवात्मा को तमोगुण का संहार करने के लिये सर्वप्रथम आवश्यकता होती है साधन की। उसके बाद तमोगुण आवृत्त सत्त्वगुण तमोगुण का त्याग करता है। विभीषण का रावण त्याग) अर्थात् सतोगुण की वृद्धि होती है। जिसकी सहायता से हमारे शास्त्र ज्ञान की वृद्धि होती है और हमें पता चलता है कि वृत्तियों का उदय इच्छाओं के कारण होता है एवं इच्छायें कर्मों के संचय के कारण होती हैं जब तक पूर्ण रूप से वृत्तिशमन नहीं होगा, हम ब्रम्हम् भाव को प्राप्त नहीं कर सकते, बार बार जीव भाव को ही प्राप्त होंगे। इसलिये हमें कर्मों का नाश करना होगा। ये कर्म ही वह नाभी है (केन्द्र) सर है जिसे सुखाना होगा यह केवल ज्ञानाग्निद्वारा ही संभव है। यही वह अग्नि-बाण है। भगवान् गीता में कहते हैं—

“ज्ञानाग्निः दग्धकर्माणि ॥९॥

यथाघांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुर्वतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुर्वते तथा ॥३८॥

अः ४ गीता

रावण द्वारा सीता हरण एवं रावण वध—प्रसंग को नीचे लिखे प्रकार से भी समझा जा सकता है—

रावण अर्थात् तमोगुण आवृत्त जीव भाव में भी भक्तिका बीज तो रहता है, परन्तु पहले वह सम्यक् रूप से प्रस्फुटित नहीं होता। रावण भगवान् शंकर का पञ्चम भक्त होने पर भी उसके हृदय में देवताओं पर आधिपत्य की कामना थी अर्थात् मन संसार सुख में रमा हुआ था। उस समय रावण को ब्रम्ह विद्या की कामना नहीं थी। यह प्रथम अवस्था है। जब उसका ब्रम्ह विद्या (भागवती सीता जी) से साक्षात्कार हुआ तब उसके हृदय में ब्रम्ह विद्या की कामना उत्पन्न हुई और उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने लगा। जब शास्त्र के अध्ययन एवं गुरु के उपदेश श्रवण द्वारा जीव को ब्रम्ह विषयक ज्ञान प्राप्त होता है, तब आध्यात्म मार्ग पर चल कर ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करता, मुक्ति के लिये प्रयत्नशील होता है। रावण को समी ने कहा 'सीता जी को छोड़ दो,' परन्तु रावण नहीं माना। बहुत समझाया कि श्री सीता जी को नहीं छोड़ोगे तो सर्वनाश हो जायेगा, किन्तु रावण ने, कहा, "सर्वनाश होने पर भी मैं नहीं छोड़ूँगा।" यह जीव की भक्ति में दृढता प्राप्त होने की स्थिति है। जब भक्त के हृदय में भक्तिका आविर्भाव होता है जब उसे आराध्य का रूप कुछकुछ समझ में आता है और तब वह उसे सर्वनाश अर्थात् जो कुछ सांसारिक है उस सबका नाश होने पर भी वह उनको छोड़ना नहीं चाहता। भक्ति की अंतिम अवस्था में भक्त का अहं भाव विगलित हो जाता है या यूँ कहें कि अहं भाव का नाश हो जाता है यही अहं की मृत्यु है। कहा है—

प्रेम गली अति सांकरी या में दो न समाहीं
जब मैं था तो हरि नहीं हरि है तो मैं नाहीं ॥

यह अहंभाव का नाश ही रावण का भगवान् श्री राम (अर्थात् धर्म) द्वारा पराजित होकर मृत्यु को प्राप्त होना है।

श्री सीता जी की अनिपरीक्षा :- ज्ञानाग्नि के प्रगट होने पर ही कुण्डलिनी का वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रम्ह शक्ति का उदय होता

है यही श्री सीता जी के वास्तविक स्वरूप का पुनः अग्नि से प्रगट होना है । श्री राम का अयोध्या आगमन एवं राज्याभिषेक :- जब यह जीवात्मा तमोगुण रूपी रावण का संहार कर लेता है एवं अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों का संहार कर लेता है तब वह पुनः योग मार्ग पर अग्रसर होता हुआ इस देह में ब्रम्ह भाव को प्राप्त करता है और भाव साम्राज्य का अधिपति होकर निवास करता है ।

पुत्र प्राप्ति :- जब हम ब्रम्हभाव को प्राप्त कर लेते हैं तब इसके फल स्वरूप रस एवं आनन्द उदय होता है जो कि लव-कुश नामक दो पुत्र हैं ।

श्री सीता जी का पुनः पृथ्वी प्रवेश :-

कुण्डलिनी शक्ति मूलधार से उठकर सहस्रारस्थ परब्रह्म (श्री राम) के साथ कुछ समय तक सहवास करने के पश्चात् पुनः मूलधार में आ जाती है । यदि कुण्डलिनी शक्ति अधिक समय तक सहस्रार में ही रुक जाये तो यह शरीर नहीं रहेगा । शक्ति का यह आरोहण क्रम ही भगवती श्री सीता जी का लीला प्रागट्य है एवं अवरोहण लीला संवरण है ।

ऐसा ब्रह्मज्ञानी जब शरीर त्यागता है तो वह पुनः देह धारण नहीं करता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है और उसकी समस्त शक्ति (इंद्रियाधिष्ठात्री आदि) ब्रह्म में लीन हो जाती है । यही भगवान का अयोध्यावासियों सहित परम धाम गमन है ।

आशा है विज्ञ पाठक व्रुटियों की ओर ध्यान न देकर इस से प्रेरणा लेकर इस दिशा में अधिक अध्ययन कर अपने भावों की अभिव्यक्ति के द्वारा योगदान प्रादन करेंगे

× × ×

श्री गुरु ग्रंथ साहिब

— स्वामी श्री शिवोम् तीर्थ जी

प्रस्तुत चार शब्दों में जीवन की चार अवस्थाओं का वर्णन है। पहला शब्द गुरुनानक देव जी के मुख से उच्चरित हुआ जब वह वणजारों के एक गांव में गए तथा पुत्र-शोक संतप्त एक वणजारे से मेट हुई। यहां जीव की वणजारा और आयु को रात्री कहकर एक रूपक में वर्णन किया गया है। दूसरा शब्द भी गुरुनानक देव जी का ही है। पहले पद में गर्माधान, बाल्यावस्था, यौवन और मरण, आयु के चार भाग किए गए हैं। दूसरे पद में बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था तथा वृद्धावस्था के रूप में वर्णित किया गया है। तीसरा शब्द गुरु रामदास जी का है। उन्होंने भी गुरुनानक देव जी के पदों की परम्परा के अनुरूप ही वणजारे अर्थात् जीव को उपदेश किया है। उसी परम्परा पर चलते हुए पांचवें गुरु महाराज श्री अर्जून देव जी ने भी अपनी शैली के अनुसार, आयु को चार भागों में विभक्त किया है।

सिरीरागु महला १ पहरे घरू १

पहिले पहरै रैणि कै वणजारिया मित्रा हुकमि पइया गरमासि ।
उरघ तप अंतरि करे वणजारिया मित्रा खसम सेती अरदासि ।
खसम सेती अरदासि बखानै उरघ धियानि लिब लागा । नामरजादु
आइया कलि भीतरी बाहुडि जासी नागा । जैसी कलम बुडी है
मसतकि तैसी जीअडे पासि । कहू नानक प्राणी पहलै पहरै हुकमि
पइया गयमासि ॥१॥

हे वणजारा मित्र! जीवन की आयु रूपी रात्रि के प्रथम प्रहर में जीव, परमात्मा के आदेशनुसार माता के गर्म में आता है

जब तक जीव, माता के गर्भाशय में रहता है, सिर नीचा तथा टांगें ऊपर किए तपस्या में लीन परमात्मासे प्रार्थना करता है। हे प्रभु! मुझे इस दुख से छुड़ाओ। मैं जीवन भर तुम्हारा ध्यान एवं नाम-स्मरण करूंगा। उल्टा लटका हुआ जीव, एकाग्र चित्त होकर परमात्मा के ध्यान में रत रहता है। जीव संसार में मर्यादा का बंधन लेकर नहीं आता। अर्थात्, वर्ण, आश्रम, धर्म, देश इत्यादि बंधनों से मुक्त होता है। न ही मृत्यु समय यहां की कमाई हुई धन-संपत्ति, घर-परिवार, मित्र-शत्रु भाव इत्यादि ही साथ लेकर जाता है। विधाता ने जीव के पूर्वनिर्मित कर्मानुसार उसके भाग्य में जो लिख दिया है। उसी के अनुसार उसे सुखदुःख, हानि-लाभ, अथवा मोग सामग्री उपलब्ध होती है। गुरुजी कहते हैं कि आयु की अवस्था रूपि रात्रि के प्रथम प्रहर में जीव माता के गर्भ में स्थित होता है।

भाव यह है कि यहां गुरुजी मनुष्य जीवन को रात्रिसे उपमित कर रहे हैं। रात्रि का अर्थ है-तम या अंधेरा। अर्थात् जो जी माया, अविद्या अथवा भ्रम में पड़ा होता है उसका जीवन रात्रि के समान है और जिस मनुष्य के चित्त में अज्ञानान्धकार नष्ट होकर ज्ञानोदय होता है उसका जीवन दिन के समान है। इसका अर्थ यह हुआ कि यहां गुरुजी अज्ञान में पड़े हुए जीव की आयु को रात्रि कहकर जीव को उपदेश करते हैं। दिन और रात्रि को मिलाकर आठ प्रहर होते हैं, जिनमें से चार प्रहर रात्रि के होते हैं। तो यहां आयु का प्रथम प्रहर अज्ञान में बद्ध जीव के गर्मधारण होने पर आरंभ होता है।

जो जीव अज्ञान से बद्ध होने के कारण, जगत में सुखदुःख के संस्कार संचय करके अपने चित्त की वासना के अनुरूप, शरीर छोड़ने के उपरांत, अगला शरीर धारण करने के लिए, गर्भ में प्रवेश करता है, उसे गर्भाशय में संपत्ति संपत्ति की यातनाएं सहन करनी पड़ती है। वहां अन्धकार होता है। गर्भ की गर्मी होती है और

जीव सिर नीचे और पांव ऊपर कर उलटा लटका हुआ होता है । इस यातना से छटकारा प्राप्त करने के लिए जीव तड़पता है और भगवान के प्रति दत्तचित्त होकर प्रार्थना करता है । 'हे भगवान' मेरा इस दुःख से उद्धार करो । मैं आजीवन आपका ध्यान और नाम-स्मरण करूंगा ।" जन्म लेने के उपरांत, जगत् में आकर मनुष्य पुनः विषयों के प्रति एवं आकर्षित होकर, तथा सुखी दुःखी होकर, संस्कार संचय करके अपनी अशुभ वासना को उदय कर लेता है और अगले जन्म की व्यवस्था करके, इहलीला समाप्त होने पर, फिर गर्भ में प्रवेश करता है और इस प्रकार पुनः गर्भ धारण करता और फिर मृत्यु को प्राप्त होकर दुःख भोगता है ।

दूजै पहरै रैणि कै वणजारिआ मित्रा विसरी गइआ धिआनु ।
हथो हथि नचाईऐ वणजारिआ मित्रा जिड जसुदा धरि कानु ।
हथो हथ नाइए प्राणी मात कहै सुतु मेरा । चेति अचेत मूड मन मेरे अंति नही कछु तेरा । जिनि रचि रचिआ तिसहि न जाणै पहरै विसरी गइआ धिआनु ॥२॥

हे वनजारा मित्र जीवन की अवस्था रूपी रात्रि में जब जीव गर्भ त्याग कर जन्म धारण करता है तब परमात्मा के ध्यान एवं नाम-स्मरण को मूल बैठता है । अर्थात् गर्भ के अन्दर की गई अपनी प्रतिज्ञा को विस्मृत कर देता है । उसके सगे संबंधी उसे हाथोंहाथ नचाते तथा प्रसन्न होते हैं' जैसे यशोदा के घर कान्हा ने जन्म लिया हो । परिवार के सभी सदस्य बच्चे को उठाकर खैलाते एवं उछालते हैं और जननी उसे मोहवश अपना पुत्र कहकर अमिमान करती है । हे मेरे मूड मन होश में आकर प्रभु का स्मरण कर, क्योंकि इस जगत को छोड़कर चलते समय कोई भी तेरा सहायक होनेवाला नहीं है । जिसने यह पंचभौतिक शरीर निर्माण किया है, तु उसे ही नहीं

जानता, पहिचानता ? तुझे चाहिए कि तू अपने चित्त में निरंतर उसी का ध्यान कर। गुरु नानक देवजी कहते हैं कि जीवन की अवस्थारूपी रात्रि के दूसरे प्रहर में जीव परमात्मा का ध्यान विस्मृत कर बैठता है।

भाव यह है कि जब मनुष्य इस जगत में जन्मधारण करता है तो जन्म से युवावस्था प्राप्त होनेपर्यंत अर्थात् बाल्यकाल और किशोरावस्था उसकी आयु रात्रि का दूसरा प्रहर होता है। कबीर साहब कहते हैं—“बालपना सब खेल गँवायों” अर्थात् बाल्यावस्था खेल खाकर व्यर्थ नष्ट हो गई। उससे पूर्वशै शवावस्था में जीव के परिवार जन उससे तरह तरह के लाड प्यार करते हैं, प्रसन्न होते हैं और माता उसे देखकर गर्व से “मेरा बेटा” कहती है और इसी प्रकार शैशव अवस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था एवं कुमार अवस्था जीवन जगत् के विषयों में खेलते, खाते समाप्त हो जाती है, किन्तु मनुष्य को परमात्मा का ध्यान और नामस्मरण याद नहीं आता। अतः गुरुजी भ्रमित जीव के मन की मूढ अवस्था की आर इंगित करते हुए कहते हैं कि “ऐ मूढमन, जीवनरात्रि का दूसरा प्रहर भी तूने जगत के विषयों में गंवा दिया, अब तो परमात्मा, जिसने तुझे यह मनुष्य जीवन प्रदान किया है, तेरे लिए सभी सुखसुविधाएँ जुटाई हैं और प्रतिक्षण तेरा आधार है, का अब तो ध्यान कर। क्योंकि यह जगत जिसके अन्दर तू रम रहा है, यहीं रह जाएगा। तेरे साथ केवल, उस जगत् के विषयों के संपर्क में आने के कारण सुख दुःख आदि के संस्कार ही साथ जाएंगे। अथवा यदि तू परमात्मा का ध्यान एवं नामस्मरण करेगा और अपने चित्त को शुद्ध कर लेगा तो चित्त की यह निर्मलता ही तेरे साथ जाएगी। अतः तू निरंतर उसी परमात्मा का सम्यक् ज्ञान अपने हृदय में धारण करे। गुरुजी कहते हैं कि मनुष्य जीवन की आयु रूपी रात्रि का दूसरा प्रहर भी जगत् के प्रति आसक्त होकर एवं भगवान की मूलकर, ध्यतित हो जाता है।

तीजै पहरै रैणि कै वणजारिआ मित्रा घन जोवन सिउ चितु ।
हरि का नामु न चेतही वणजारिआ मित्रा वधा छूटहि जितु ।
हरि का नामु न चेतै प्राणी विकलु भइआ सगि माइया । घन सिउ
रता जोवनि मता अहिला जगमु गवाइला । घरम सेती बापार
न कीतो करमु न कीतो मिनु । कहु नानक तीजै पहरै प्राणी घन
जोवन सिउ चितु ॥३॥

हे वनजारा मित्र! जीवन की अवस्थारूपी रात्रि के तृतीय प्रहर में जीव का चित्त घन यौवन में आसक्त हो जाता है । अर्थात् घन संचय करने और यौवन के भोग भोगने में संलग्न हो जाता है । वह भगवान का ध्यान एवं नमस्मरण नहीं करता, जिससे वह माया रूपी वंघन से निवृत्त हो सकता है । जीव परमात्मा के नाम का स्मरण नहीं करता और इसके विपरित माया के संसर्ग में आकर सदैव सुखी दुखी होता एवं सुख दुःख के संस्कारों को पुष्ट करता रहता है । वह घन के मोह एवं यौवन की मस्ती में ऐसा लीन हो जाता है कि इस अत्युत्तम एवं अति दुर्लभ मनुष्य शरीर को ऐसे ही गंवा देता है । फिर न तो अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करके कर्तव्य का कर्म करता है और न ही शुक्ल कर्मों के साथ अपनी मित्रता बनाता है । गुरुजी कहते हैं कि जीव के जीवन की आयुरूपी रात्रि का तीसरा प्रहर भी घन; यौवन की आशा तृष्णा में ही नष्ट हो जाता है ।

भाव यह है कि जीवन के आयुरूपी तीसरा प्रहर उपस्थित होने पर भी जीव सावधान नहीं, अपितु घन यौवन में आसक्त और मदमत्त हो जाता है । वह उचित अनुचित अथवा धर्म अधर्म का विचार नहीं करके किसी भी प्रकार घन संचय करता और अपने लिए अधिकाधिक सुविधाएं जुटाना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है । वह अवसर कुअवसर का विचार किए बिना यौवन का भोग भोगने में लिप्त हो जाता है । और इस प्रकार जगत्

और जगत के विषयों के प्रति आसक्त होकर इस अमूल्य नरदेह रत्न को व्यर्थ नष्ट कर देता है। जो मनुष्य-शरीर भगवान का नाम-स्मरण तथा ध्यान करने के लिए उपलब्ध होता है उसे घन-यौवन की मस्ती में गँव बँठाता है। यदि जीव कर्तव्य बुद्धि से कर्म एवं नाम-स्मरण करे तो उसका चित्त शुद्ध होकर उसे चिर-शांति एवं आत्मानन्दकी उपलब्धि हो सकती है। गुरुजी कहते हैं कि जीव के जीवन रूपी रात्रि के तृतीय प्रहर में भी वह नहीं सम्मलता एवं भोग-विलास में पड़कर जीवन को व्यर्थ कर देता है।

चउथै पहरै रैणि के वणजारिया मित्रा लावी आइया खेतु।
जा जमि पकडि चलाइया वणजारिया मित्रा किसै न मिलिआ
मेतु। मेतु चेतु हरि किसै न मिलिआ जा जमि पकडि चलाइया।
झूठा रुदनु होआ दो आलै खिन महि भइया पराइया। साई वसतु
परापति होई जिसु सिउ लाइया हेतु। कहु नानक प्राणी चउथै
पहरै लावी लुणिआ खेतु ॥४॥१॥

हे वनजारे मित्र! जीवन की आयु रूपी रात्रि के चौथे प्रहर में जीवन-रूपी खेत को काटने के लिए यमदूत आघमकते हैं। अर्थात् शरीर का खेत तब तक पककर कटने के लिए तैयार हो जाता है—अर्थात् जब वृद्धावस्था बीत जाती है तब यमदूत जीव को पकड़कर और मांति मांति की यातनाएँ देते हुए जीव को ले जाते हैं। हे मित्र! जब यमदूत जीव को दुःख देते हुए साथ ले चलते हैं तो तो यह रहस्य अर्थात् प्राणों का शरीर से अलग होने का रहस्य किसी को ज्ञात नहीं होता। जीव के यमदूतों का होते ही सगे संबंधी रुदन करते हैं। किन्तु वह रुदन भी स्वार्थवश होने के कारण मिथ्या ही होता है। आगामी लोक में जीव को वही कुछ प्राप्त होता है जहाँ पर उसकी चित्तवृत्ति एकाग्र हुई होती है—अर्थात् माया के चक्र में उसकी वृत्ति लीन रहती है। गुरुजी कहते हैं कि

जीवन रात्रि के चौथे प्रहर में मनुष्य जीवन का पका हुआ खेत, खेत काटनेवाले के द्वारा काट लिया जाता है। अर्थात् वृद्धावस्था में शरीर का अंत निकट आ जाता है और समय पर यमदूत जीव को पकड़कर ले जाते हैं। अर्थात् शरीर को प्राणों से अलग कर देते हैं।

भाव यह है कि यौवन के पश्चात् रात्रि की चौथी अवस्था बुढ़ापा और मृत्यु है। बुढ़ापे में आकर जीव का चित्त अधिक चंचल किंतु विषय भोग में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। अन्तः इन्द्रियों के आधार पर प्राणशक्ति की क्रियाशीलता समाप्त हो- जाती है। गुरुजी इस अवस्था को “लावी आइया खेतु” कहकर प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार खेत की फसल पक जाने पर फसल को काट लिया जाता है इसी प्रकार मृत्यु भी इस शरीर रूपी खेत की फसल को काट लेती है। अर्थात् जीव मृत्यु को प्राप्त होता है। फसल काटने का ये दृश्य अर्थात् प्राण-शक्ति का इन्द्रियों के आधार पर क्रियाशीलता की समाप्ति, किसी के देखने में नहीं आती। लोग कहते हैं कि वह मर गया किन्तु वह मर कैसे गया। इसका रहस्य कोई देख, समझ नहीं सकता। उस समय जीव के सगे संबंधी, जिनकी जीव के प्रति आसक्ति होती है, मोहवश रुदन करना आरंभ कर देते हैं। किन्तु इनका यह रुदन भी जगत् एवं जगत् के विषयों की भांति ही मिथ्या तथा स्वार्थपूर्ण होता है। वे लोग वियुक्त हो रहे जीव के प्रति रुदन नहीं करते वरन् अपने स्वार्थ की पूर्ति में विघ्न उपस्थित हुआ देखकर विचलित होते हैं। गुरुजी कहते हैं कि वर्तमान जन्म में जीव को वही प्राप्त होता है जिसमें उसका चित्त लीन रहता है। यदि जीव सांसारिक विषयों में एकाग्रचित्त रहता है तो पुनः संसार में लौटकर आता है। और यदि जीव प्रभु के ध्यान एवं नाम-स्मरण में लीन होता है तो उसी को प्राप्त होता है। इस

लिए जीव को चाहिए कि जगत् के विषयों का त्याग कर प्रभु के नाम-स्मरण एवं ध्यान में अपने चित्त को एकाग्र कर सदैव के लिए जगत् के सुखदुःख से छटकर, निवृत्त होकर प्रभु में लीन हो जाएँ किन्तु गुरुजी कहते हैं कि जीव जिस प्रकार अपनी जीवन शक्ति के प्रथम तीन प्रहर जगत् के विषयों के चित्तन में व्यतीत कर देता है इसी प्रकार चतुर्थ प्रहर भी जगत् की वासना मन में लिए हुए व्यतीत करता है । तथा इस जगत् को छोड़कर चला जाता है । किन्तु चित्त में जगत् की वासना रहने के कारण उसे पुनः जगत् में ही लौटकर आना पड़ता है । इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र घूमता रहता है । (क्रमशः)

आजीवन सदस्यता (जून १९८३ तक)

१७-	श्री हरिरामभाई ठक्कर.....	बम्बई
१८-	" टी. एस. कृष्णन्.....	"--
१९-	" आर. वेन्कटरामन्.....	"--
२०-	" सुरेन्द्र जे. वद्रे.....	"--
२१-	" बी. एम. निगुडकर.....	"--
२२-	" ए. के. सिंहा.....	"--
२३-	" आर. जी. वैगनकर.....	"--
२४-	" कुमारी सन्ध्या वैगनकर.....	"--
२५-	श्री एस. जी. राव.....	"--
२६-	" एस. एस. खड्गेवाल.....	"--
२७-	" ई. एम. शंकर.....	"--
२८-	" एस. एस. टीलो.....	"--
२९-	" सतीश प्रभु.....	"--
३०-	" पी. के. रूपारेलिया.....	"--
३१-	" मन्मथरत्न एम. पंड्या.....	"--
३२-	" बी. पी. पगंजवे.....	"--

प्रश्नोत्तर

—स्वामी श्री शिवोम् तीर्थ जी

प्रश्न:— क्रिया शक्ति की क्रियाओं के समय षट्चक्रदर्शन क्या मानसिक भ्रम अथवा साधना की प्रगति है ?

उत्तर:—इस प्रश्न का उत्तर समझने के लिए सर्वप्रथम षट्चक्र का स्वरूप समझ लेना चाहिए। हमारे शरीर में मूलाधार से लेकर सहस्रार तक सात भाग कर दिये गये हैं। जिनमें प्रत्येक भाग को एक चक्र कहा जाता है। इस प्रकार मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा व सहस्रार ये सात चक्र हैं। वास्तव में ये सातों चक्र शरीरके अन्दर नाडियों के केंद्र (Centres) हैं। शक्तिकी क्रियाएँ इन चक्रों के आधार पर अनुभव में आती हैं। अर्थात् शक्ति इन चक्रों के आधार पर क्रियाएँ करती है। जैसे विजली किसी आधार पर कार्य करती है। पंखे के आधार पर घूमने का कार्य करती है। इसी प्रकार शक्ति जागृत होकर चक्रों के आधार पर चक्रों के अनुसार क्रियाएँ करती है। जैसे पेट की क्रियाएँ मणिपूर का कार्य है। नादश्रवण अनाहत का कार्य है। रोना, हँसना, चिल्लाना, हाथों का पटकना इत्यादि विशुद्ध चक्र की क्रियाएँ हैं। तथा आज्ञा चक्र पर चित्त एकाग्र होकर ध्यानावस्था को प्राप्त करता है। साधना में इन चक्रों पर क्रियाएँ, चित्त में संचित संस्कारों के उदय होकर क्रियाओं में परिणत होने पर अनुभव में आते हैं। क्रिया-शक्ति संस्कारों के आधार पर क्रियाएँ करवाती है भौतिक स्तर पर वैसे ही क्रियाएँ होती हैं उनका आधार कोई न कोई चक्र होता है। अब इसको केवल मात्र मन की भ्रांति

कैसे माना जा सकता है ? वैसे तो वेदान्त की दृष्टि से यह संपूर्ण जगत् ही मन की भ्रांति है । अतः जगत् में होनेवाली (घटित) घटनाएँ एवं दृश्य प्रपञ्च सब का सब भ्रम मात्र है । चित्त में उदय होनेवाले संस्कार, मानसिक संकल्प-विकल्प, चित्त में उदय होनेवाली वृत्तियाँ, शक्ति के द्वारा, विभिन्न चक्रों पर प्रकट होनेवाली क्रियाएँ, वेदान्त की दृष्टि से भ्रम मात्र हैं । किन्तु इतना कह देने से तो काम नहीं चलता । योग की दृष्टि से ये सब क्रियाएँ वास्तविक हैं । तथा चित्त के अंदर संचित संस्कारों को क्षीण करने का कार्य करती हैं । योग, जगत् को असत्य नहीं मानता वरन् इस जगत् के प्रति हमारे चित्त में आसक्ति का भाव समाप्त कर चित्त को शुद्ध कर, अहंकार को क्षीण कर एवं बुद्धिपर पड़े अविद्या के आवरण को उतारकर आत्मस्थिति प्राप्त करना योग का लक्ष्य है । जब हमारा लक्ष्य इस जगत् से हटकर आत्मस्थिति की प्राप्ति हो जाती है तो हमारा जगत् के दुःखों से छुटकारा हो जाता है । इस प्रकार योग में जगत् व उसकी अनुभूतियाँ मिथ्या नहीं, सत्यवत् है । जगत् सत्य हो या मिथ्या, इससे साधक को कोई प्रयोजन नहीं होता ।

इस दृष्टिकोण से यदि विचार किया जाय तो ये चक्रपर होनेवाली अनुभूतियाँ, चित्त में पड़े संस्कार व वासना कुछ भी भ्रम नहीं हैं । वास्तविकता है । इस संबंध में एक बात और समझने के योग्य है कि ये चक्र वास्तव में भौतिक शरीर के चक्र नहीं हैं, वरन् महामाया, जगदम्बा भगवती के चक्र हैं, अथवा शक्ति या चैतन्य के चक्र हैं । जिनकी अनुभूति भौतिक स्तरपर नाडियों के केन्द्र-स्थानों पर होती है, इसलिए ये भौतिक नाडियों के केन्द्र-स्थान ही उसके चक्र माने जाते हैं ।

प्रश्न:—जब इष्ट देव की आकृति दिखायी देती है तब मन बहुत देर तक एकाग्र नहीं रहता ।

उत्तर:-इष्ट देव की आकृतिकी अनुभूति का तात्पर्य मैं वह समझता हूँ कि राम, कृष्ण या शंकर इष्टदेव हैं और साधना में जब कभी आपको इष्ट देव भी आकृति दिखायी देती है तो उसे आप इष्टानुभूति की संज्ञा देते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार की अनुभूति क्या है? हमारे चित्त में विभिन्न प्रकार के शुभअशुभ संस्कार संचित हैं। कभी हम राम के भक्त हुए तो कभी कृष्ण के, शंकर, हनुमानजी आदि के संस्कार हमारे चित्त में संचित हैं। जब साधक की कुंडलिनी शक्ति अथवा आल्हादिनी शक्ति अंतर्मुखी जागृत होकर इन संस्कारों के आधार पर क्रियाशील होती है तो चित्त में वे संचित संस्कार उदय होकर उस उस देवता की आकृति धारण कर हमारे चित्त में उपस्थित होते हैं। जिसे हम उस देवता विशेष का साक्षात्कार मानते हैं। वास्तव में वह देवता विशेष का साक्षात्कार न होकर क्रियाशक्ति की क्रिया मात्र होता है ! वर्तमान जन्म में हम अपने स्वभाव, योग्यता एवं चित्तभूमिका के अनुसार अपना एक इष्टदेव निर्धारित करते हैं। अर्थात् हम परमात्मा का एक स्वरूप निश्चित करते हैं। परमात्मा का स्वरूप कैसा है। यह हमने देखा नहीं। वास्तव में जब तक हमारा साधन कर्तृत्वामिमान साधना के आधार पर चलता है, तब तक हम अपना चित्त स्थिर करने के लिए अवलंबन के रूप में इष्टदेव की एक आकृति निर्धारित करते हैं। यह केवल मात्र ध्यान का आधार अथवा अवलंबन मात्र होता है !। जब हमारी शक्ति अंतर्मुखी जागृत हो जाती है तब साधक को इस प्रकार इष्ट निर्धारण की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मान लो कि एक साधक का इष्ट भगवान शंकर है, किन्तु जब उस साधक की शक्ति चित्त के आधार पर कार्य करना आरंभ करती है, उसके चित्त में भगवान राम का मंत्र, आकृति एवं एकाग्रता के संचित संस्कार, चित्त में उदय होकर वैसी क्रियाएँ करती हैं। तो साधक को शंकर भगवान के दर्शन नहीं, अपितु भगवान राम के दर्शन होते हैं। हवों। अकसे आर्य समाजी साधक का पता है जिसने कभी भी अपने जीवन में भगवान शंकर की आराधना

नहीं कि किन्तु जब गुरु कृपा से उसकी शक्ति अंतर्मुखी जागृत हुई तो उसे भगवान शंकर की अनुभूति आरंभ हो गयी ।

इष्टदेव की इस अनुभूति के विवरण के पश्चात् अब हम आपके प्रश्न पर आते हैं । जिसका उत्तर उस उत्तर को समझ लेने के पश्चात् बहुत स्पष्ट हो जाता है । आपके चित्त में शक्ति जागृत होकर क्रिया करती है । ये क्रियाएँ आप नहीं करते, स्वयंमेव होती हैं । जैसी, जितनी और जब तक किसी क्रिया विशेष की आवश्यकता होती है, उतनी ही देर, शक्ति वह क्रिया करवाती है । आपके चित्त में जब किसी देवता विशेष के संस्कार उदय होते हैं । तो उस चित्त में संस्कारों को क्षीण करना, शक्ति का लक्ष्य होता है । वे संस्कार एक मिनिट, दो मिनिट या घंटों दो घंटे की एकाग्रता के हो सकते हैं । जितनी देर के वे संस्कार होंगे, उन्हीं की क्रिया होगी । जितनी प्रगाढ़ एकाग्रता की उस संस्कार को क्षीण करने में आवश्यकता होगी, उतनी ही प्रगाढ़ एकाग्रता की अनुभूति होगी । तात्पर्य यह है कि इस साधन प्रणाली में एकाग्रता साधक का मुख्य लक्ष्य नहीं होता, चित्त के संचित संस्कार क्षीण करना मुख्य हाता है । इसी प्रकार रोना, हँसना, गाना, चिल्लाना, कूदना नाचना, कांपना, आसन, मुद्राएँ व प्राणायाम इत्यादि जिस प्रकार की भी क्रिया की आपको आवश्यकता होगी अथवा आपके संस्कारों को क्षीण करने के लिए होगी, वही क्रिया आपको होगी ।

साधक सामान्यता अपनी साधना प्रणाली में चित्त की एकाग्रता पर ही ध्यान देता है और यह भूल जाता है कि अपनी साधन प्रणाली में एकाग्रता के पीछे साधक न भागे । जब शक्ति चित्त के अंदर कार्य करना आरंभ कर देती है तो चित्त के संस्कारों को जैसे जैसे क्षीण करती चली जाती है वैसे ही वैसे चित्त शुद्ध होता जाता है । चित्त में चंचलता का कारण, ये संचित संस्कार ही होते हैं । जब संचित संस्कार चित्त में क्षीण हो जाते हैं, चित्त स्वभावतः शुद्ध हो जाता है । चित्त में स्वभावतः ही एकाग्रता की स्थिति प्रकट होने लगती है । अपनी साधन

प्रणाली में साधक को एकाग्रता का अभ्यास करना नहीं है, वरन् चित्त में संचित संस्कार क्षीण करने की आवश्यकता है।

प्रश्न:—साधन के दौरान कभी कभी उच्चाटन होता है। इसका क्या कारण है? समझ में नहीं आता।

उत्तर:—यह हम पहले कई बार कह चुके हैं कि साधन का होना अथवा नहीं होना, मंद होना अथवा तीव्र होना साधक की चित्त स्थिति पर है। जब कभी सत्त्वगुणी संस्कार साधना के अनुकूल चित्त में उदय हो जाते हैं, तब साधन भी तीव्र गति से होने लगता है। एवं जब चित्त में संचित संस्कार, साधना के प्रतिकूल उदय होते हैं। अथवा बिल्कुल ही नहीं होता एवं चित्तमें उच्चाटन की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में साधक को घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि साधक ध्यानपूर्वक एकाग्रचित्त होकर, अपने अंदर झाँककर, देखने का प्रयत्न करेगा तो वह पाएगा कि उसके अंदर सूक्ष्म गति से कुछ न कुछ घटित हो रहा है। अर्थात् मन उच्चाटन की स्थिति में है। मन उच्चाट होने का अर्थ साधन नहीं हो रहा है ऐसा नहीं। किन्तु साधक की पकड़ में क्रिया आती नहीं—अपने अंदर झाँक कर देखने का साधक का स्वभाव होता नहीं। इसी लिए क्रिया भी उसकी पकड़ में आती नहीं और इस प्रकार साधक का मन, साधना से विरत होने लगता है। ऐसी स्थिति में साधक का यह कर्तव्य होता है कि साधना के लिए निश्चित समय में से बचा हुआ समय, जप, स्तोत्र पाठ, भजन, पठन पाठन, चिंतन—मनन आदि में व्यतीत करें। साधन का समय साधना में ही लगावे। पुनः जब उसके चित्त के प्रतिकूल संस्कार, शक्ति की आंतरिक, सूक्ष्म क्रियाओं से क्षीण हो जाएंगे तथा चित्त में अनुकूल संस्कार उदय होंगे तब पुनः उसकी क्रिया तीव्र एवं प्रकट हो जावेगी।



SM GROUP OF INDUSTRIES
SM INDUSTRIAL MARKETING PVT. LTD.
VAISHU ENGG. INDUSTRIES PVT. LTD.
SM DYECHEM PVT. LTD.
SM HOLDING & FINANCE PVT. LTD.

— : **Manufacturers of** : —

**COMPLETE TEXTILES PROCESSING MA-
CHINERIES, BOILERS, THERMOPACS, DYES
& CHEMICALS, AUXILIARIES, PIGMENTS
AND BINDERS.**

**702, Dalmal Towers, 211, Nariman Point,
BOMBAY-400 021.**

Phone : 22 42 13

24 40 16



Branch Offices at :

Delhi, Ahmedabad, Hyderabad, Bangalore,

Baroda and Calcutta.

पत्रावली

श्री.....

शुभ आशीर्वाद,

आपने अपने पत्र में लिखा है कि आपके मन में इतने बुरे विचार आ रहे हैं कि आप उन्हें कभी भी नहीं क्षमा कर सकेंगे। कुछ समझ में नहीं आता कि इतने बुरे विचार पापी से पापी भी नहीं कर सकता। "जैसे विचार मेरे मन में प्रकट हो रहे हैं—नामस्मरण भी कर रहा हूँ, नामस्मरण करते समय भी पापी विचार आ रहे हैं, आपसे बार बार यही प्रार्थना है कि ये विचार किस प्रकार नष्ट हो जावें, आप ही बतलावें।"

आपने अपने मन में विचारों की जो व्यथा कथा लिखी है वह पढ़ कर मुझे तो किसी बात का आश्चर्य नहीं हुआ है यदि ध्यान से देखा जाय तो ये विचार कहीं बाहर से उदय नहीं होते वरन् हमारे चित्त में संचित संस्कार ही विचारों में परिणित होकर चित्त को तरंगित करते हैं। जो संस्कार हमारे चित्त में नहीं होते वे विचार भी हमारे चित्त में उदय नहीं हो सकते। जब तक चित्त में संस्कार संचित रहेंगे तब तक विभिन्न प्रकार के विचार आते रहेंगे। यदि कोई साधक यह चाहता है कि मेरी साधना में विचार उदय न हो कर मेरा चित्त एकाग्र हो जावे तो उसे चित्त में उदय होने वाले विचारों को रोकने के स्थान पर विचारों को उदय होने का अवसर प्रदान करना चाहिये। जैसे जैसे विचारों के माध्यमसे चित्त में संचित संस्कार क्षीण हो कर चित्त शुद्ध होता जावेगा वैसे वैसे विचार उदय होना, भावनायें प्रकट होना एवं क्रियायें घटित होना बन्द होता चला जावेगा। साधकबन्धु अपने चित्त में संस्कारों को रोकने के लिए अपने अपने मन से युद्ध शुरू कर देते हैं एवं विचारों के उदयास्त को

रोकने के लिये प्रयत्न करते हैं। जब कोई साधक इन विचारों को बलपूर्वक रोकने का अभ्यास करता है तो चित्त में संचित संस्कार संचित रह जाते हैं एवं चित्त शुद्ध नहीं हो पाता। चित्त में रहे संचित संस्कार चित्त में पड़े पड़े द्विगुणित विकसित होते हैं चित्त कभी शुद्ध नहीं हो पाता। कोई भी साधक अपने मनसे युद्ध करके सफल मनोरथ नहीं हो सकता।

आपकी क्रियाशक्ति अन्तर्मुखी, जाग्रित, प्रकाशित एवं क्रियाशील है। इस विषय को समझना आपके लिये इतना कठिन नहीं है। शक्ति जब चित्त में संचित संस्कारों के आधार पर क्रियाशील होती है तो उन संस्कारों को वासना का रूप ग्रहण करने से पूर्वही विचारों, भावनाओं, और क्रियाओं में परिणित करके क्षीण कर देती है और इस प्रकार चित्त शुद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है जैसे-जैसे क्रियाओं के माध्यम से संस्कार क्षीण होते जाते हैं वैसे वैसे स्वभाविक एकाग्रता विकसित होती जाती है यदि कोई साधक दृष्टा भाव में नहीं आकर तथा क्रियाशक्ति के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित नहीं होकर क्रियाशक्ति को अवसर प्रदान नहीं करे तथा अपनी साधना का अवसर प्रदान नहीं करे तथा अपनी साधना का उत्तरदायित्व स्वयंग्रहण करता हुआ अपने मन एवं चित्त में उदित होनेवाले विचारों को रोकने का अभ्यास करता हुआ उनसे युद्धरत हो जावे तो एक ओर तो वह साधक क्रियाशक्ति की साधना से च्युत हो जाता है, तथा दूसरी ओर उसके चित्त की शुद्धि का काम रुक जाता है। अतः साधक के लिये जिसकी क्रियाशक्ति अन्तर्मुखी जाग्रत हो चुकी है यही उत्तम है कि अपने आपको क्रियाशक्ति के प्रति समर्पित होकर साधन-रत रहे।

एक बात इस विषय में और समझने की है कि यदि आप विचार करके देखें तो आपको दो तार मिलाने की आवश्यकता है कि अधिक आते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि साधक के कर्म

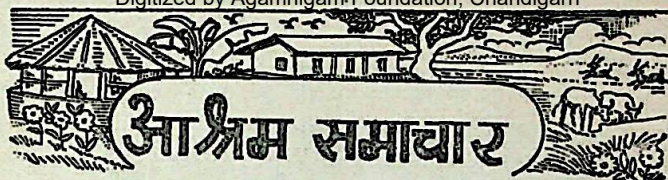
में उसकी आसक्ति होती है। जब कोई साधक आसक्तियुक्त मोहयुक्त कृतित्वाभिमानयुक्त होकर कर्म करता है तो उस कर्म के फल को अपने मन की इच्छा के अनकल प्राप्त करने की जिज्ञासा के कारण उसके चित्त में अनुकूलता प्रतिकूलता का भाव विकसित हो जाता है। तब उस कर्म के द्वारा होनेवाले सुख-दुःख, मान-अपमान अथवा अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि के संस्कार चित्रमें संचित कर लेता है। जो संस्कार सबसे अन्त में संचित होते हैं वह सबसे प्रथम उभर कर सामने आता है और चित्त को तरंगित कर, चित्त में विचार उदय कर देता है। क्रियाशक्ति तो अपना कार्य करती ही है, जाग्रित होने के उपरांत संचित संस्कारों को कुरेदकर बाहर निकालती है किन्तु जब साधक चित्त में संचित संस्कारों को नहीं रोकता तो दो चार दिन आगे पीछे संचित-संस्कार, विचारों का रूप ग्रहण करके साधक के चित्त में उदय होते हैं। तब साधक को साधना में आनन्द तो आता है क्रिया-शक्ति कार्य करती है किन्तु साधक की साधना में न तो उन्नति ही हो पाती है और नहीं विचार उसका पीछा छोड़ते हैं परिणाम यह होता है कि साधक वहीं का वहीं रहता है।

उपरोक्त विवरण से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहिला हम अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ को शिथिल कर मन, बुद्धि इन्द्रियां और शरीर इत्यादि को शक्ति के प्रति समर्पित कर शक्ति की क्रियाओं में मानसिक अथवा शारीरिक हस्तक्षेप न करें तथा उसे कार्य करने का अवसर प्रदान करें। हमारे चित्त में जो विचार उदय होंगे वे चित्तशुद्धि के क्रम के अन्तर्गत होंगे और जो विचार दस-बीस वर्ष पुराने अथवा पूर्व जन्मों के संचित कर्म उदय होंगे वे तो प्रत्यक्षतः ही चित्त शुद्धि का ही कार्य होगा। दूसरा हम मोहयुक्त, आसक्तियुक्त तथा कृतित्वाभिमान युक्त होकर कर्म करने के स्थान पर कर्तव्य बुद्धिसे कर्म करें अथवा ईश्वर की सेवा मान कर कर्म करें

अर्थात् इस प्रकार कर्म करें कि कर्म करते हुये भी अकर्मि रहें । कर्म करते हुये तत्काल सुखी:दु:खी न होकर चित्त की अप्रभावित सन्तुलित अवस्था बनाये रखें, और इस प्रकार अनासक्त निष्काम होकर कर्म करने से जब हम नये संस्कारों को अपने चित्त में संचित नहीं करेंगे, तो पुराने संस्कारों को उदय होकर, क्रियाओं विचारों में परिणित होने का अवसर प्राप्त होगा ।

उपरोक्त दोनों प्रकार की साधना का अनुष्ठान करने से साधक की साधना पूर्णत्व प्राप्त करती है एवं पूर्णत्व की ओर ले जाने में साधक का मार्ग प्रशस्त करती है । समर्पणयुक्त क्रिया की साधना आन्तरिक साधना कहलाती है एवं समर्पण युक्त कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करना बाह्य साधना-इन दोनों के सहारे साधना आगे बढ़ती है । और यदि साधक धैर्य और उत्साह से साधना में लगा रहे तो उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाता है । अतः अच्छे या बुरे विचारों से डरो मत ! वे आपके चित्त से ही पैदा होते हैं और आपका चित्त शुद्ध करने के लिये ही आपके चित्त में उदय होते हैं उन्हें उदय होने दो जिस प्रकार दृष्टा भाव से आप क्रियाओं को देखते रहते हैं—इसी प्रकार से चित्त में उदित होने वाले, विचारों, भावों एवं विचारों को भी दृष्टा भाव से देखते रहो ! जैसे-जैसे इन विचारों का कारण चित्त में संचित संस्कार क्षीण होते जावेंगे वैसे-वैसे उत्तरोत्तर आपको पहले चित्त की एकाग्रता फिर चित्त की निर्विषय अवस्था एवं तत्पश्चात् सम्प्रज्ञात योग, असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता जायेगा । भगवान पर भरोसा रखो ! शक्ति के प्रति समर्पण करो ! अप्रभावित रह कर कर्म करो और चित्त को सदैव प्रसन्न रखो यही उन्नति का मार्ग है !

— शुभाचिंतक शिवोम् तीर्थ



**श्री नारायण कुटीन्यास-सन्यास आश्रम-देवास में
वर्ष १९८४ में**

मनाये जाने वाले महोत्सवों की सूची

- १-परमपूज्य श्री स्वामी शिवोम् पोष कृष्ण ३ दिनांक २२ तीर्थ जी मह राज का जन्मदिवस जनवरी १९८४-गुरुवार ।
- २-श्री विद्येश्वर महादेव स्थापना दिवस- माघ शुक्ल १२ दि. १४ फरवरी १९८४-मंगलवार ।
- ३-महा शिवरात्रि- फाल्गुन कृष्ण १३ दि. २९ फरवरी १९८४-बुधवार ।
- ४-श्री रामनवमी- चैत्र शुक्ल ९ दि. १० अप्रैल १९८४-मंगलवार ।
- ५-श्री हनुमान जयंति- चैत्र शुक्ल १५ दि. १५ अप्रैल १९८४-रविवार ।
- ६-आदि गुरु श्री नारायण तीर्थ देवजी का दीक्षा दिवस- वैशाख शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया) दि. ४ मई १९८४-शुक्रवार ।
- ७-श्री गुरु पौर्णिमा- आषाढ शुक्ल १५ दि. १३ जुलाई १९८४-शुक्रवार ।
- ८-श्री कृष्ण जन्माष्टमी श्रावण कृष्ण ८ दि. १६ अगस्त १९८४-रविवार ।
- ९-ब्रह्मलीन परमपूज्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज की पुण्य- तिथि- आश्विन कृष्ण ६ दि. १६ सप्टेंबर १९८४-रविवार ।
- १०-ब्रह्मलीन परमपूज्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज का जन्मदिवस- आश्विन शुक्ल १० (विजया दशमी) दि. ४ अक्तुबर १९८४-गुरुवार ।
- ११-अन्न कूट कार्तिक शुक्ल ९ दि. २५ अक्तुबर १९८४-गुरुवार ।

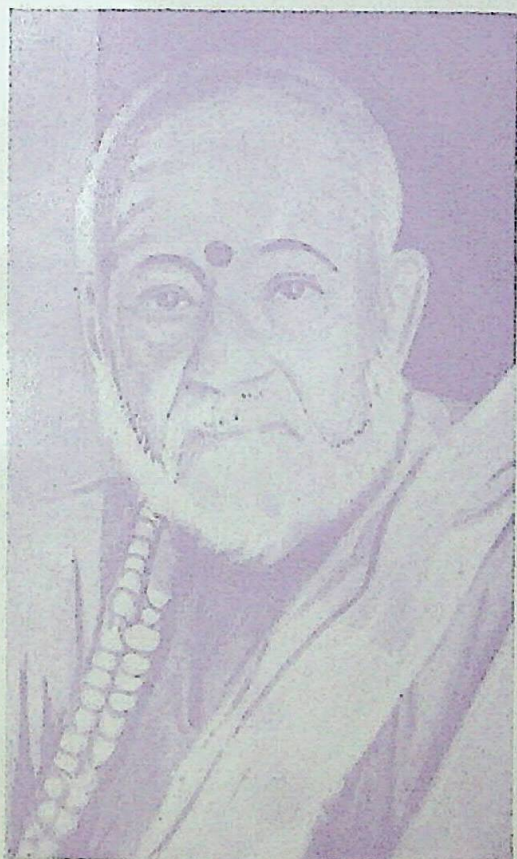
फार्म संख्या

(नियम संख्या ८)

- (१) प्रकाशन स्थान.....बम्बई ।
- (२) प्रकाशन का नियत काल.... त्रैमासिक ।
- (३) मुद्रक का नाम मनहरलाल एम. पंड्या ।
- (४) राष्ट्रीयता.....भारतीय ।
- (५) पता.....एफ्. ६१. गौतम नगर लोकमान्य तिलक रोड,
बोरीवली (वेस्ट) बम्बई ४०००९२.
- (४) प्रकाशक का नाम...मनहरलाल एम. पंड्या ।
राष्ट्रीयता.....भारतीय ।
पता.....एफ्-६१, गौतमनगर,
लोकमान्य तिलक रोड-बोरिवली.
(वेस्ट), बम्बई-४०००९२
- (५) सम्पादक का नाम...चंदुलाल पी. परीख
राष्ट्रीयता....भारतीय
पता....७२।५६५ मोतीलाल नगर नं-३,
महात्मा गांधी रोड, गोरेगांव (वेस्ट),
बम्बई-४०००९०
- (६) स्वामित्व....स्वामी विष्णुतीर्थ शिक्षा प्रतिष्ठान
बम्बई-२०

मैं इस पत्रिका का प्रकाशक एवम् मुद्रक मनहरलाल एम. पंड्या घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरे उत्कृष्टतम ज्ञान एवम् विश्वास के अनुसार सत्य है ।

—: शक्ति पाताचार्य :—



जगन्नाथ पुरी गोवर्धन मठाधीन

॥ ब्रह्मलीन श्री १००८ स्वामी श्री शङ्कर पुरुषोत्तम तीर्थजी महाराज ॥

With Best Compliments From

MESSRS ADARSHA CONSTRUCTION CO.

BUILDING CONTRACTORS & ORGANISORS

—PARTNERS—

SHRI RATILAL R. PATEL—Tel.-Res.-53904.

&

SHRI MANHAR RAVISHANKER DIXIT—Tel.-Res.-397 240

OFFICE

GAUTAM CHAMBERS
NEAR MODEL CINEMA-GANDHI ROAD,
AHMEDABAD-380001.

(GUJARAT)

OFFICE TEL. NO. :- 38 34 10.

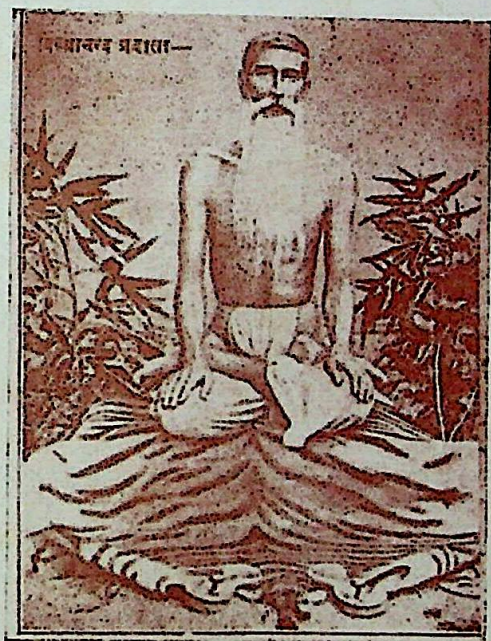
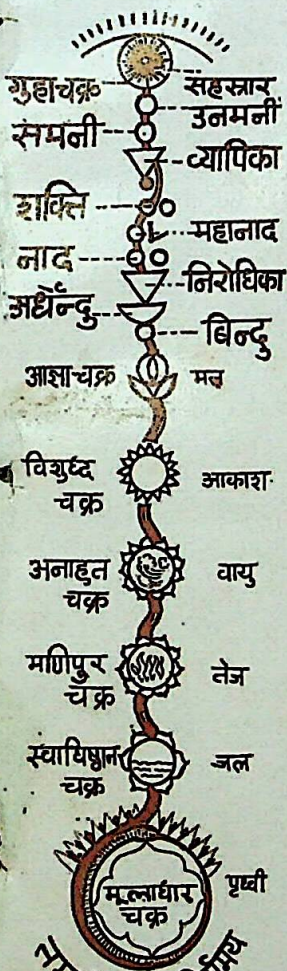
संपादक :- चन्दुलाल प्रे. परीख ।

मुद्रक तथा प्रकाशक :- मनहरलाल एम्. पंड्या ने ज्ञानमुद्रा - रॉयल इन्डस्ट्रीयल प्रेस, बडोदा वगैरे- ३१ में सत्वाधिकारी :- "स्वामी विष्णुतीर्थ शिक्षा प्रतिष्ठान"-२ ए, मेन्शन, 'ए' रोड, चर्चगेट, बडोदा - २० के लिये मुद्रित तथा वगैरे-२० में प्रकाशित कि

देवात्मशक्ति

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

॥ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥



— शक्तिपाद प्रवर्तकः —
Adv. Vikram Chaudhary Collection, Noida

॥ ब्रह्मलीन श्री १०८ स्वामी श्री नारायणतीर्थ जी महाराज ॥

— दक्षिणा मूर्ति —

जय दक्षिणा मूर्ति ॐ गुरु जय दक्षिणा मूर्ति ।
करत अनुग्रह शिष्य वर्ग पर, फैली जग कीर्ति ॥ ॐ गु. ज. ॥

दृष्टिपात, संकल्प मात्र से जगती कुण्डलिनी ।
क्रियावती क्रीडाएं करती, जायं न जो बरनी ॥ ॐ गु. ज. ॥

षट् चक्रों को बेध, ऊर्ध्व गति प्राणों की होती ।
दिव्य मौन उपदेश जगाता, निष्ठा की ज्योति ॥ ॐ गु. ज. ॥

निर्मल मन निष्काम भाव से शक्ति को ध्यावे ।
ब्रह्मधाम कर प्राप्त, छूट भव-बन्धन से जावे ॥ ॐ गु. ज. ॥

करिय कृपा गुरुदेव ! दास को अटल भक्ति दीजे ।
भुक्ति मुक्ति कर दान, दीन को पूर्णकाम कीजे ॥ ॐ गु. ज. ॥

प्रतिपल प्रीति बढे चरणों में, हो न कभी तृप्ति ।
सात्विक भाव बढे क्षण-क्षण में, बढे ज्ञान दीप्ति ॥ ॐ गु. ज. ॥

जिनके दृढ विश्वास, चरण तजि आश नहीं दूजी ।
निश्चय बनि अधिकारी, पावे महायोग पूंजी ॥ ॐ गु. ज. ॥

गुरुपद पद्मपराग सुअंजन जो नयनन आंजे ।
दिव्य दृष्टि कर प्राप्त, पावे ताप त्रय अर्धनिमिष भाजें ॥ ॐ गु. ज. ॥

कैसे करें प्रार्थना गुरुवर ! हम सब अज्ञानी ।
स्वयंसिद्ध शुभ साधन दीजे श्री गुरु विज्ञानी ॥ ॐ गु. ज. ॥

॥ ॐ श्री परब्रह्मणे नमो नमः ॥

देवात्मशक्ति

यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ।

वर्ष : ३] १५ अप्रैल-मई-जून १९८४ [अंक : २

प्रेरणा के स्रोत :

शक्तिपात प्रवर्तक श्री स्वामी नारायण तीर्थदेव जी ।
शक्तिपाताचार्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ॥

उद्देश्य :

लोककल्याणार्थ सिद्धसाधन शक्तिपात सम्बन्धी गवेषण,
अनुसन्धान एवं ज्ञातव्य-प्रकाशनादि द्वारा श्रेयपथप्रशस्ति ॥

वार्षिक शुल्क —

दस रुपये—

आजीवन सदस्यता शुल्क :

भारतमें : २५१ रुपये — विदेशमें : १०० डॉलर

प्रकाशन मास :

फरवरी, मई, अगस्त, नवम्बर

प्रकाशन स्थल :

स्वामी विष्णुतीर्थ शिक्षा प्रतिष्ठान

२ ए, चर्चगेट मेन्शन, 'ए' रोड,

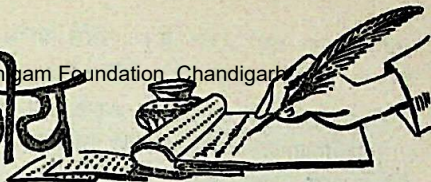
चर्चगेट, बरबई-400020

Phone — 295272

१. सम्पादकीय.
२. प्रवचनसुधा
३. श्री गुरुग्रंथसाहिब — स्वामीश्री शिवोम् तीर्थजी
४. देवात्म शक्ति (हिंदी अनुवाद) श्री. प्रभुदयाल मिश्र
५. पत्रावली
६. आश्रम समाचार...मंत्री श्री नारायण कुटीन्यास सन्यास
आश्रम — देवास (म. प्र.)

❧ नियमावली ❧

१. ग्राहक सदस्यता जनवरी से ही पूरे वर्ष के लिए आरम्भ होगी। बीचमें सदस्य बननेवालों को उस वर्ष के पिछले अंक उपलब्ध होंगे तो भेज दिये जायेंगे।
२. लेखकों से निवेदन है कि रचनाएँ कागज की एक ही ओर पर्याप्त हाशिया छोड़कर स्वच्छ अक्षरों में लिखकर भेजें।
३. लेखक अपनी रचनाओं की प्रतिलिपि अपने पास रख लें। अस्वीकृत रचनाओंको वापस भेजनेका प्रबंध नहीं है।
४. लेखों के परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, छपने अथवा न छापने का पूरा अधिकार मुद्रक-प्रकाशक तथा सम्पादक को है।
५. पत्रव्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।
और उत्तर पाने के लिये डाकव्यय भी अवश्य भेजें।
६. पत्र-व्यवहार तथा शुल्क भेजने का पता प्रकाशन स्थान है।
अभी तक शुल्क नहीं भेजा हो तो, कृपया सत्वर भेजिये।
८. पता बदल जाने पर शीघ्रातिशीघ्र पत्र लिखें।



गुरुबिन कौन बताये वाट ?

नीचे दिये हुये श्लोक मेरे पढनेमें आये ।

मूढ ! जहीहि धनागम-तृष्णाम् कुरुं सदबुद्धि मनसिदि तृष्णाम्
यत्लभसे निज कर्मोपात्तम् वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ।

हे मूर्ख ! धन पाने की तृष्णा तू छोड़ दे । मनमें तृष्णारहित
सत्य संकल्पको धारण कर ।

अपनी मेहनत से जितना धन मिल जाय, उससे अपने मनमें
खुश रहे ।

अर्थमनर्थ भावय नित्यम् नास्तिततः सुखः लेशः सत्यम् ।

पुत्रादपि धन-भाजांभीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः ॥

याद रख धन-अनर्थ का कारण होता है । उससे सचमुच उसमें
जरा भी सुख नहीं है क्योंकि धनवानों के पुत्र से भी भय रहता
है । हर जगह यह रीति दिखायी देती है ।

कामं, क्रोध, लोभं, मोहम् त्यक्त्वाऽऽ मानं भावय कोऽहम् ।

आत्म-ज्ञानविहीना मूढाः ते पच्यन्ते नरक निगूढाः ॥

काम, क्रोध, लोभ और मोह को छोड़कर अपने बारे में सोच
कि मैं कौन हूँ । जिनको आत्मज्ञान नहीं वैसे मूढ लोग नरकमें
पडकर घोर यातना भोगते रहते हैं ।

त्वयि मायि चान्यत्रैको विष्णु व्यर्थं कुप्यसि सर्व-सहिष्णु

सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानम् सर्वत्रोत्सृज भेदाज्ञानम् ॥

तुझमें, मुझमें और सर्वत्र दूसरोंमें विष्णु ही बैठे हैं । फिर तू

नाहक गुस्सा क्यों होता है। सबमें आत्मा के ही दर्शन कर और
मेदभाव रूपी अज्ञान को छोड़ दे।

ये उपदेश की बातें पढ़ीं मगर क्या जाने क्यों इन बातोंमेंसे
छुटा नहीं जाता। इन तथ्योंको समझना आसान है मगर आचरण
कैसे करना। तब मुझे कबीरजी का भजन याद आ गया।
रास्ता मिल गया।

गुरुविन कौन बतावे बाट ? बड़ा विषम यमघमाट गुरुभ्रांति की
पहाड़ी नदियाँ बीचमें, अहंकार की लाट ॥ १ ॥

काम क्रोध दो पर्वत ठाढ़े, लोभ चोर संघात ॥ २ ॥

मद मत्सरका मेह बरसत, मायापवन बहे दाट ॥ ३ ॥

कहत कबीर सुनो भाई साधो, क्यों तरना यह घाट ॥ ४ ॥

नारायणमय होने का गुरु उपाय केवल गुरु ही है। हम सब
दीक्षित हैं। भाग्यवान हैं कि हमें "सद्गुरु मिले। संसार में
मनुष्य को तरह तरह की भ्रांतियाँ होती हैं। असत्य सत्य दिखाई
देता है, दुःखमें सुख दिखाई देता है, नश्वर में शाश्वत दीखता है,
तहर तरह के दुर्गुण में मनुष्य फँसता है माया जाल में बंधा गया
है। मोहग्रसित मानव नर्क को स्वर्ग समझ रहा है। संसार रूपी
सागर से भयानक नदियोंके प्रवाहसे अगर पार उतार सकते हैं
तो केवल गुरु ही है जो ईश्वर का स्वरूप है उनकी शरणमें
जानेसे हरकोई काम बनता है।

हमारा सद्भाग्य है कि गुरु महाराज हमारे यहाँ बम्बई में
पधार रहे हैं। आपकी उलझनें, समस्याएँ उनके समक्ष रख
सकते हैं। संसार को पार करना मुश्किल है। किन्तु गुरुका शरण
में जाओ तुम्हारा बड़ा पार हो जायेगा।

गुरु माहात्म्य के बारे में जितना भी लिखें कम है। वह बुद्धि का
विषय तो है ही नहीं, यह श्रद्धा का विषय है।

गुरुदेव जब आप यहाँ पधार रहे हैं तब यह छोटासा अंक
आपके चरणोंमें सादर समर्पित है। इसके द्वारा हम आपका स्वागत
करते हैं और शिष्य वर्ग भाई बहनों को आपकी सेवा का पूरा लाभ
उठाने की अपील करते हैं। श्री सद्गुरुम्यो नमोनमः। गुरुदेव !
आइये! पधारिये ! चरणमें बिठाइये, अपना लीजिये! ॐ-ॐ

प्रवचन सुधा

स्वामी श्री शिवोम् तीर्थजी

(दि. २६।३।८३ को बावई आश्रम में साधकों तथा भक्तों के समक्ष ईश्वर प्रणिधान विषय पर सामान्य दृष्टि से हटकर एक नयी दृष्टि से दिया गया श्री स्वामीजी महाराज के प्रवचन का सारांश।



ईश्वर - प्रणिधान

यम नियम के विषयपर प्रवचनों के क्रम में आज अंतिम दिन अंतिम नियम ईश्वर प्रणिधान पर कुछ कहने का प्रयत्न करूंगा। इस विषय पर मैं बोलता ही रहता हूँ, किंतु इस दृष्टिकोण से यहां कुछ नहीं कहूंगा क्योंकि आप लोगों में शिक्षा की कमी के कारण तथा पठन-पाठन इत्यादि में अधिक रुचि न होने के कारण आप लोग उस विषय को उस प्रकार समझ नहीं पायेंगे। वैसे तो ईश्वर प्रणिधान योग-दर्शन का विषय है एवं योग शास्त्रों में स्थान स्थान पर इसकी महिमा का वर्णन किया गया है किंतु योग दर्शन के विस्तार में नहीं जाता हुआ मैं आपको यही समझाना चाहूंगा कि ईश्वर प्रणिधान भक्ति अथवा योग की एक ऐसी स्थिति का नाम है जिसमें साधक की शक्ति अन्तर्मुखी जाग्रत होकर चित्त अथवा शरीर में क्रियाशील हो जाती है तथा साधक को अपनी ओर से कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं होती तब ईश्वरीय शक्ति साधक के लिये साधनरत हो जाती है।

इस विषय में संत तुकाराम का उदाहरण देकर आप लोगों को कुछ समझाने का प्रयत्न करूँगा। तुकाराम महाराष्ट्र के महान संत, भगवद्भजन प्रेमी, विनम्र एवं सहनशील थे। उनकी आंतरिक शक्ति अंतर्मुखी जाग्रत हो चुकी थी एवं उसी शक्ति के आवेश में वे भगवान के अभंग इकतारा एक हाथमें और दूसरे हाथ में करताल लेकर नाचते हुए गाते थे। संतों के पद्य वास्तव में संतोंद्वारा रचित नहीं होते, वरन् उनके अन्तर से प्रस्फुटित होते हैं। जो पद अथवा कविता के आधारपर लिखे जाते हैं। वह स्वरचित होती है किंतु संतों को अपनी बुद्धि पर जोर देने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्य क्रियाओं की भांति संतों के अंदर से उनके हृदय से मुख के द्वारा प्रवाहित होता है। जैसे तुलसीदास, सूरदास, मीरा अथवा नानक की कविताएँ इन संतों द्वारा रचित हैं। उनके अन्तर से स्वतः प्रस्फुटित होती हैं। जैसे जल के चश्मे से स्वतः पानी फूटकर आता है, खोदना नहीं पड़ता है। उसी प्रकार संतों के हृदय में जाग्रत क्रियाशील शक्ति में ज्ञान, योग, भक्ति, धर्म तथा नीति के दोहे, भजन, अभंग अपने आप अन्तर से ही प्रवाहित होते हैं।

इसी प्रकार संत तुकाराम अपने द्वारा प्रकट होनेवाले अभंगों के माध्यम मात्र थे किंतु जब वे शक्ति के आवेश में तल्लीन और मस्त होकर इकतारे और करताल पर भगवान का लीला-वर्णन तथा भक्ति वराग्य के अभंग नित्य करते हुए गाते थे तो जनसमूह मंत्र-मुग्ध होकर उन्हें सुनने लगता था। संत तुकाराम की ख्याति फैलने लगी। जिससे एक विद्वान कर्मकाण्डी किंतु चित्त से भक्ति एवं श्रद्धाविहीन, रामेश्वर भट्ट नामक ब्राह्मण उनसे ईर्ष्या करने लगा। एक दिन रामेश्वर भट्ट ने देहू" जहाँ संत तुकाराम

निवास करते थे, के अधिकारी के पास जाकर उनकी शिकायत की। उसने कहा—“यह तुकाराम ब्राह्मण होकर वेदों के आधार पर अमंग रचना करता है जिसे इसका कोई अधिकार नहीं है। अतः तुकाराम को दंडित किया जाना चाहिए तथा भविष्य में उसकी अमंग रचना रोक दी जानी चाहिए।

जब तुकाराम को इस बात का ज्ञान हुआ तब तुकाराम अत्यंत विनम्र हो उस ब्राह्मण के पास गये और कहा—ब्राह्मण ब्रह्मा का मुख होता है। ब्राह्मणों के मुखसे निकली हुई बात ब्रह्मा का आदेश होता है। जिसका पालन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य होता है। मुझे ज्ञात हुआ है कि आपने यहां के अधिकारी के पास मेरे बारे में कुछ चर्चा की है। यदि आप सीधे मुझे ही आदेश दे देते तो मैं निश्चय ही इसका पालन करता। अब भविष्य में मेरे द्वारा कोई भी अमंग रचित नहीं किया जायेगा किंतु जो अमंग अभी तक मैं रचित लिखित कर चुका हूँ उनका क्या कहें!?” तुकाराम ने उस ब्राह्मण को यह बात इसलिये कही क्योंकि वह जानते थे कि तथाकथित शास्त्रज्ञ ब्राह्मण शक्ति के अन्तर्मुखी जाग्रत होकर क्रियाशील होने के अनुभवों को समझ नहीं पायेगा। वह तो बौद्धिक विकास तक ही सीमित है। शक्ति और योग के रहस्य उसके समक्ष प्रकट नहीं हुए। अतः तुकाराम ने अपने द्वारा गाये जानेवाले अमंगों को स्वरचित कहकर अपना पिण्ड छुड़ाया तथा उस समय की परिपाटी के अनुसार ब्राह्मण आज्ञा शिरोधार्य कर अमंग गाना बंद कर दिया।

तुकाराम की बात सुनकर ब्राम्हण ने अपने अंतर में संतोष अनुभव किया कि चलो बड़ा अच्छा हुआ तुकाराम शीघ्र ही अपने स्थान पर आ गया। किंतु बाहर से झुंझलाहट दिखलते

हुए उसने कहा कि उन अभंगों को 'इन्द्रायणी' में प्रवाहित कर दो। 'देह' ग्राम के पास जहाँ तुकाराम रहे थे वहाँ इन्द्रायणी नाम की नदी प्रवाहित होती है। तुकाराम ऐसा ही मानकर घर से उठकर चले गये।

आप लोग प्रायः यहां दीक्षित ही बैठे हैं तथा इस बात को मली मांति समझ सकते हैं कि अंतर में स्वतः होने वाली क्रियाओं को रोकना साधक के लिये उचित नहीं होता। जब शक्ति चित्त अथवा शरीर में जाग्रत होकर कार्य आरंभ कर देती है तब उछलना, कूदना, नाचना, कांपना इत्यादि विभिन्न क्रियाओं की तरह ही चित्त में स्वतः ही दृश्य-दर्शन, नाद-श्रवण, विभिन्न प्रकार के संगीत तथा कविताएँ चित्त के अंदर से ही प्रकट होकर साधक को विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का आनंद देती है। सर्वप्रथम तो उन क्रियाओं को रोकना उचित नहीं होता किंतु यदि बाह्य क्रियाएँ किसी कारण रुक भी जाएँ तो भी अत्यंत अधिकारी साधकों को क्रियाशक्ति के आवेश को रोकना अत्यंत कठिन हो पाता है। यदि उन्नत अधिकारी साधक उस समय उदय होने वाली क्रियाओं को रोक भी दे तो भी अंदर-अंदर क्रिया का आवेश बना रहता है।

तुकाराम निराश-उदास घर वापिस आये। सोचने लगे कि अब क्या किया जाये। जगत् के अन्दर केवल मात्र विठ्ठल भगवान ही मेरे हैं। अन्य तो जगत् की सभी वस्तु एवं पदार्थ मिथ्या एवं परिवर्तनशील हैं। एकमात्र विठ्ठल भगवान ही सत्य स्वरूप हैं। अब उन भगवान का भी लीला वर्णन एवं गुणगान बाहर निकलता था और मुझे तथा जगत् को आनंदित करता था वह अब मुझसे छीन लिया गया है। तुकाराम यह भी जानते थे कि पूर्व-रचित एवं लिखित अभंग वास्तव में उनके द्वारा रचित नहीं हैं मात्र लिखित ही हैं। वह

तो हृदय की स्फुरणा को जो कि उनके निर्मल एवं शुद्ध हृदय में घटित होती थी, को बाहर लाकर व्यक्त कर देती थी। और उसमें उन्हें जो आनन्द आता था उसे बटोर लेते थे। जिन अमंगों से उन्हें जितना आनन्द प्राप्त हुआ तथा जिनको उनके भक्त तथा श्रद्धालू आदर तथा भावना की दृष्टि से देखते थे, उन्हें इन्द्रायणी में प्रवाहित करने में संकोच होता है। किंतु ब्राम्हण-आदेश का ध्यान कर वह पुनः उन अमंगों को प्रवाहित करने को उद्यत हो जाते।

अंततः तुकाराम ने अमंगों को समेटा, वस्त्र में बांधा और प्रवाहित करने इन्द्रायणी किनारे वस्त्र में लिपटी पोथी को सामने रखकर बैठ गये। बहुत देर ऐसे ही बैठे रहे। अंततः उन्होंने पोथी दोनों हाथों से उठायी और विठ्ठल भगवान का ध्यान कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगे—“प्रभो! मैं आपका दास हूँ। आपका गुणगान मेरे अन्तर में आनन्द की लहरियाँ पैदा करता था। अब आपकी वह सेवा और आनन्द मुझसे छीन लिया गया है। न चाहते हुए भी इन अमूल्य अमंगों को मुझे इन्द्रायणी के पवित्र-जल में प्रवाहित करना पड़ रहा है। प्रभो! यह अमंग आपने ही मेरे अन्तर में प्रकट होकर स्फुरित किये थे। आपकी ही वस्तु आपको दे रहा हूँ। मेरा इसमें कुछ नहीं।” और उन्होंने उन अमंगों को प्रवाहित कर दिया। इस घटना से तुकाराम बहुत दुःखी एवं विक्षिप्त हुए। घर आकर आपके मन में वही विचार बार-बार उठने लगे और आप सोचते कि—“अब जीवन में क्या रखा है। जगत् के और विषय में तो पहले से ही रस है ही नहीं। मात्र विठ्ठल भगवान की सेवा लीला वर्णन जैसा भगवान करवाते थे वैसे ही मैं करता जाता था। अब वह रस भी जीवन में नहीं रहा तो फिर शरीर रखने से लाभ ही क्या?” मन में ऐसा विचार कर आप देहू से पण्डरपुर के लिये प्रस्थित हुए। और जाकर विठ्ठल भगवान के मंदिर की सीढ़ियों पर बैठ गये। कितना विचित्र अनुभव था कि

Digitized by eGangotri Foundation, Chandigarh

तुकाराम के चित्त में अभंग-गायन हो रहा था क्योंकि वह गायन तुकाराम तो करते नहीं थे। तुकाराम के चित्त में स्वतः ही क्रियारूप में अभंगों का निर्माण एवं गायन चल ही रहा था। भगवान उनके चित्त में कार्यशील हो विभिन्न प्रकार की क्रियाएं कर रहे थे किंतु बाहर उसे व्यक्त करने की अनुमति नहीं थी। ऐसी विचित्र स्थिति में रहते हुए तुकाराम ने खाना-पीना तथा सोना त्याग दिया। इसी प्रकार दिन व्यतीत होते गये और तुकाराम क्षीणकाय होते चले गये। पण्ढरपुर एवं आसपास के क्षेत्रों में सर्वत्र यही चर्चा एवं चिंता होने लगी। लोग आते और तुकाराम से पूछते—“महाराज आप इस प्रकार शरीर को कष्ट देकर शरीर छोड़ने को किस कारण से उद्यत हुए हैं?” तुकाराम सुनते और चुप रह जाते।

लोगों के बार-बार आग्रह करने पर एक दिन तुकाराम कह चले—“जब जीवन का एकमात्र आधार ही छीन लिया गया तो फिर जीवित रहने से लाभ ही क्या?” और किसके लिये जीवन धारण किया जाये?” तब कुछ देर रुककर तुकाराम ने बात को आगे बढ़ाते हुए देह निवासी उस ब्राम्हण का नाम बताया और घटना कह सुनायी। सुनकर सभी लोग एकदम बोल उठे—“जिस ब्राम्हण में ब्राम्हणत्व के गुण नहीं उसे आपने कैसे ब्राम्हण मान लिया? जिसका चित्त ईर्ष्या एवं द्वेष से भरा होता है उसके मुख द्वारा ईश्वर-वाणी कैसे प्रकट हो सकती है? अतः वह कुछ भी हो किंतु उसे हम ब्राम्हण नहीं कह सकते? आप तो अभंग गाइये और अभंगों की रचना कीजिए तथा आनंद से जीवन व्यतीत कीजिए।” किंतु तुकाराम ने उनकी बात मानने से इन्कार करते हुए कहा—“किसी के चित्त की तो भगवान जाने। हम किसी को अच्छा, अथवा बुरा कहने वाले कौन होते हैं। हाँ, हम इतना जानते हैं कि वह ब्राम्हण हैं और

उनके द्वारा दिया गया आदेश भगवान का आदेश है। अतः हम
 अब इस शरीर को रखने में कोई प्रयोजन नहीं देखते हैं।”
 हार कर लोग देह उस ब्राम्हण देवता पं. रामेश्वर मट्ट के पास
 पहुँचे और जाकर सारी घटना सुनाकर तुकाराम के प्राण बचाने
 की याचना की।

ब्राम्हण देवता को जब ज्ञात हुआ कि तुकाराम शरीर-त्याग
 कर रहे हैं तो वे बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे— “उसको तो
 मर जाना चाहिये जो अब्राम्हण होकर वेदों में हस्तक्षेप करता
 है तथा अनधिकार चेष्टा कर वेदों को भावों का अपने अमंगों
 द्वारा प्रतिपादन करता है उसे भला इस जगत् में वर्तमान रहने
 का क्या अधिकार हो सकता है ?” ब्राम्हण की बात सुनकर
 तुकाराम के सभी भक्त दंगरह गये और अपना-सा मुंह लेकर
 वापिस लौट गये।

उधर तुकाराम अपने अन्तर में ईश्वरीय भक्ति की क्रियाओं
 में मस्त थे। खाना-पीना तथा निद्रा त्याग ही चुके थे। प्रतिक्षण
 शरीर में ईश्वरीय भक्ति कार्यशाली रहती। मांति-मांति की
 क्रियायें उन्हें अन्तर में अनुभव होतीं। कभी भाव-विमोर होकर
 हँसने या रोने लगते। कभी अशक्त होकर भी उठकर विठ्ठल
 -विठ्ठल कहने लगते। शरीर झूमने लगता अथवा अंतर में
 संगीत युक्त अभंग प्रस्फुटित होते। जिस गायन को वे चित्त में
 घटित होता अनुभव करते।

यहाँ पर एक घटना याद आ गई। हम ऋषिकेश में ठहरे थे।
 कई लोग हमें दीवाली-कांड भेजते हैं। एक बार एक ऐसा कांड
 आया। जिसके ऊपर बने चित्र ने हमारा ध्यान अपनी ओर
 आकर्षित किया। वह चित्र मीरा का था जिसे हमने परेम करवा

कर ऋषिकेश आश्रम में लगवा दिया। तथा जो अभी तक वहाँ
 सुशोभित है। मीरा बाई एक हाथ में इकतारा तथा दूसरे हाथ में
 करताल लेकर कीर्तन कर रही है। यहाँ तक तो कोई विशेष
 बात नहीं। किन्तु उसके आगे जो विशेष बात उस चित्र में
 थी कि इकतारे की तुंगी पर वंशी बजाते भगवान् कृष्ण बैठे
 थे। अर्थात् इकतारा करताल तथा मीरा के भजन सब कृष्ण की
 वंशी बजने के बाह्य प्रदर्शन मात्र थे। यह सब तो माध्यम
 थे। वास्तव में जब चित्त में ईश्वरीय शक्ति जाग्रत हो उठती
 है तथा विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से प्रकट होने लगती है
 तो मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, देह आदि के आधार पर उनको निमित्त
 बनाकर चित्त के संस्कारों के अनुसार बाहर प्रकट होती है।
 जिसे ईश्वर प्रणिधान कहा जाता है। संत तुकाराम की भी
 ऐसी ही अवस्था थी। भजन-कीर्तन, अभंग, गायन, रुदन तथा
 नृत्य इत्यादि वह स्वयं नहीं करते थे, अपितु उनके शरीर, इन्द्रियाँ,
 मन इत्यादि से भिन्न अलग कोई अन्य शक्ति शरीर के माध्यम
 से शरीर के आधार पर उनसे क्रियाएँ करवाती थीं।

अन्ततः विठ्ठल भगवान् को अपने भक्त पर दया आयी।
 तथा उनके समक्ष प्रकट हो गये। यह विषय कई प्रकार से
 विचारणीय है। भगवान् का प्रकटीकरण बाह्य जगत् में नहीं
 होकर भक्त के हृदय में होता है। अर्थात् ईश्वरीय शक्ति चित्त
 के संचित संस्कारों के आधार पर कार्य करती हुई उन्हें क्रियाओं
 में परिणित करती जाती है। रोना, गाना, चिल्लाना, आसन,
 प्राणायाम, शुभ अथवा अशुभ क्रियाएँ सब संचित संस्कारों के
 आधार पर ही होती हैं। तुकाराम का चित्त अत्यंत निर्मल था।
 सत्त्वगुण सम्पन्न था। उसमें अशुभ वासनामय विपरीत संस्कारों

का तो कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। चित्त की अवस्था सत्त्वगुण प्रधान थी तथा उसमें विठ्ठल भगवान के स्वरूप के प्रति एकाग्रता, नाम के प्रति प्रेम, लीलाओं के प्रति अनुराग तथा गुणों के प्रति मधुर भाव था। इसलिये संत तुकाराम की क्रियायें भी विठ्ठल भगवान से सम्बन्धित ही घटित होती थीं। उन्हें विठ्ठल भगवान का स्वरूप दिखाई देता। विठ्ठल भगवान के अमंग अंतर में सुनाई देते। विठ्ठल-विठ्ठल करते हुए भाव विमोर होकर वे नृत्य करने लगते। अर्थात् तुकाराम का सारा जीवन ही विठ्ठलमय था। उनकी क्रियायें उनके प्रेम सम्बन्धी थीं।

अतः एक दिन उनकी क्रियाओं में विठ्ठल भगवान चित्त में प्रकट हो गये। अर्थात् ईश्वरीय शक्ति उनके संस्कारों एवं भावनाओं के अनुरूप रूप धारण कर उनके चित्त में प्रकट हुई।

जिन साधकों के चित्त एवं शरीर में आह्लादनी ईश्वरीय शक्ति जाग्रत हो चुकी है। तथा जिनको इस प्रकार की अनुभूति प्राप्त होती रहती है वे इस अनुभव को समझ सकते कि क्रियाशक्ति उनके अंतर में बाते करती हुई स्पष्ट सुनाई देती है। तथा कई बार उनके चित्त में उनके इष्ट का रूप धारण कर उनसे चर्चा भी करती है। साधकों को यह अनुभूति आंतरिक ही होती है। भगवान ने कहा 'तुकाराम, हम तुम्हारी भक्ति भावना पर प्रसन्न हैं। वह ब्राह्मण जिसके आदेशों से तुमने हमारा अमंग गायन रोक दिया है वह हमारी दृष्टि में ब्राह्मण ही नहीं है। उसका आदेश हमारा आदेश नहीं है। जिसका चित्त वासनामय ईर्ष्या द्वेषयुक्त होता है उसके चित्त में मैं अथवा मेरी शक्ति कभी प्रकट नहीं हो सकती है। मैं तो शुद्ध चित्त होने पर अंतर में प्रकट होता हूँ। यदि गुरुकृपावशात् अथवा किसी साधन विशेष का अनु-

ष्ठान करने पर मेरी शक्ति चित्त में जाग्रत हो भी जाती है तो वह चित्त की मलीनता एवं अशुभ वासनाओं को जलाकर भस्म कर देती है। तथा मैं चित्त में से ही प्रकट हो जाता हूँ। मेरा यह प्रकटीकरण कोई आकृतियुक्त नहीं वरन् तत्त्वतः होता है। उस ब्राह्मण के चित्त में अपने ब्राह्मणत्व एवं विद्या का अभिमान है। इसलिये जगत में फैली तुम्हारी ख्याति से ईर्ष्या के कारण वह अन्दर ही अन्दर जलता है तथा उसका चित्त अनावश्यक संकल्प, विकल्प करता है। भला मैं उसके मलीन अशुभ चित्तमें क्यों कर प्रकट होकर तुम्हें कोई ब्राह्मण के माध्यम से आदेश दे सकता हूँ।"

"मेरे समीप जाति का महत्व नहीं, प्रेम और भक्तिका महत्व है। जाति तो धार्मिक अवस्था है जो कि सामाजिक स्तर पर श्रम का विभाजन है। नीच से नीच चाण्डाल भी यदि मुझे प्रेम करता है तो मुझे प्रिय होता है। तुम शरीर से ब्राह्मण नहीं हो तो क्या हुआ तुम्हारा मन ब्राह्मण है। तुम ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म का आचरण करते हो। इसलिये तुम शरीर से ब्राह्मण न होकर भी ब्राह्मण हो। इसलिये भी मैं अपने अभंग तुम्हारे हृदय में कार्यशील होकर प्रकट करता हूँ। क्योंकि तुम्हारा चित्त पवित्र है। मेरे प्रति प्रेम है। जगत के प्रति वैराग्य है। यदि मैं जाति-प्रिय होता तो उस अभिमानी ब्राह्मण के चित्त में प्रकट होकर कोई आदेश देता। किंतु मुझे छल-छिद्र एवं कपट से कोई प्रयोजन नहीं। मैंने तुम्हारे जैसे शुद्ध हृदय में प्रकट एवं कार्यशील होकर जगत को ज्ञान का उपदेश तुम्हारे माध्यम से दिया। अतः अब तुम चित्त की ग्लानि त्याग दो पहले का उत्साह वापिस लाओ और हृदय में रचित, प्रस्फुटित एवं प्रकट अभंगों का गायन-लेखन

कर जगत में श्रेय मार्ग का प्रचार करो।”

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

भगवान के शब्दों को सुनकर तुकाराम के चित्त की निराशा दूर हो गयी एवं पहले का उत्साह पुनः लौट आया। इकतारा और करताल पुनः उठा लिये और अमंग गायन आरम्भ कर दिया। कुछ देर पश्चात अंतर में प्रकट इष्ट के रूप में प्रकाशित एवं प्रस्फुटित क्रिया से शक्ति से उसने पुनः कहा, “हे प्रभो! आपकी महिमा धन्य है। अपरम्पार है। आपने मुझ पर अत्यंत कृपा की जो मेरे चित्त की शक्ति की ग्लानि दूर कर दी। किंतु पूर्व-लिखित अमंग जो मैं इन्द्रायनी में प्रवाहित कर चुका हूँ उनका क्या हो?” तब अंतर में आकाशवाणी हुई “वे अमंग सुरक्षित हैं। तथा तुम्हारे प्रशंसक भक्तों के पास दे दिये गये हैं। जब आप वापिस देह पहुँचोगे तो वे अमंग वापिस मिल जायेंगे।”

उधर पं. रामेश्वर भट्ट का मन तुकाराम के समान भक्त के प्रति अपराध करने से प्रायश्चित्त की अग्नि में जलने लगा एवं उन्होंने तुकाराम से क्षमा याचना की।

उपरोक्त दृष्टान्त से ईश्वर प्रणिधान का विषय पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार से संत तुकाराम के हृदय में क्रियाशक्ति की क्रियाओं के रूप में अमंग प्रकट होते थे उसी प्रकार वेदों के मंत्र भी किसी पुरुष द्वारा रचे गये नहीं हैं। उन मंत्रों को अपौरुषेय कहा गया है जो प्राचीन ऋषियों की साधना के समय उनके चित्त में प्रकट हुए और उन मंत्रों के दृष्टा ऋषि को उन उन मंत्रों का ऋषि मान लिया गया। इसी प्रकार गुरु ग्रंथसाहिब के शब्द भी गुरुओं में प्रकट हुए। उन्होंने उनको अपने अंतर में शब्द रूप में सुने। इसीलिये उन्हें पद्य नहीं कहकर ‘शब्द’ कहा जाता है। जितना भी संत साहित्य है वह क्रिया शक्ति के चित्त में

कार्यशील होने पर अंतर में प्रस्फुटित होता रहा है। हमने कुछ ऐसे साधक देखे हैं। जिन्हें भजन के शब्दों के साथ संगीत भी अर्थात् भजन विशेष का सुरताल इत्यादि भी साथ ही अंतर से ही आते हैं।

संत तुकाराम अथवा अन्य भक्तों की साधना को सामान्य जन समझ नहीं पाते तथा उसे कर्तृत्वाभिमान युक्त साधना समझते हैं। इसीलिये उन लोगों को उन संतों की नकल करने पर वह आनंदानुभूति नहीं होती, वह रस नहीं आता तथा वह मस्ती नहीं आती जो कि उन संतों को प्राप्त होती थी।

यह सब तभी संभव है जबकि साधक की अन्तश्चेतना अन्तर्मुखी जाग्रत, प्रकाशित एवं क्रियाशील हो तब वह जाग्रत शक्ति विभिन्न क्रियाओं के रूप में चित्त के संचित संस्कारों के आधार पर कार्य करेगी तथा चित्त शुद्धि का कार्य सम्पादित करेगी।

बालस्तावत् क्रीडासक्तः

तरुणस्तावत् तरुणरिक्तः ।

वृद्धस्तावत् चिंतामग्नः

परमे ब्रह्मणिकोऽपि न लग्नः ॥

भजगोविंदम् (२)

गोविंदम् भज मूढमते ॥

श्री गुरु ग्रन्थ साहिब

Digitized by eGangotri Foundation, Channigalla

स्वामी श्री शिवोम् तीर्थ जी-

(गतांक से आगे)

सिरि रागु महला - १॥ पहरे धरु - १ -

पहिले पहरै रैणि कै वणजारिआ मित्रा बालक बुधि अचेतु।
खीर पीए खेलाइए वणजारिया मित्रा मात पिता सुत हेतु।
मात पिता सुत नेहु धनेरा माइ मोहु सवाई। संजोगी आइआ किरतु
कमाइआ करणी कार कमाई। रामनाम बिनु मुक्ति न होई बूडी
दूर्ज हेति। कहु नानक प्राणी पहलै पहेरे छूटहिगा हरि चेति ॥१॥

हे वनजारा रूपी जीव मित्र ! जीवन की अवस्था रूपी रात्रि
के प्रथम प्रहर में जीव, बालक का रूप धारण करता है, उसकी
बुद्धि अपरिपक्व होती है कि उसे खाने, पीने, पहनने ओढने तथा
मलमूत्र त्याग का भी अच्छी तरह बोध नहीं होता। माता-पिता
भी मोह के वशीभूत होकर उसकी देखभाल करते हैं। वह स्वयं
खा भी नहीं सकता। जगत् में सर्वत्र व्याप्त मोह माया के आवरण
के कारण ही माता-पिता पुत्र-प्रेम में उसके पोषण में उठाए गए
कष्टों, क्लेशों को भी उपेक्षित करते हैं। बालक अपनी इच्छा से
नहीं बरन् पूर्व-निर्मित प्रारब्ध एवं वासना से बंधकर तथा विवश
होकर ही जगत में जन्म लेता है और जन्म लेने के पश्चात्
भविष्य में भी वह वही कर्म कर पाता है जो ईश्वर उसके
प्रारब्धानुसार उससे करवाता है किन्तु राम नामके बिना जीव की
मुक्ति संभव नहीं है। माया से आवृत्त होने के कारण द्वैत - भाव

में रत रहने से सारा संसार काल का ग्रास बन रहा है। गुरुनानक देवजी कहते हैं कि ऐ प्राणी ! जीवन के प्रथम प्रहर में ही इस जगत् के बंधन से मोक्ष प्राप्त करने की आशा करता है तो ये हरि-नाम स्मरण से ही संभव है।

इस शब्द में गुरुजी ने आयु रूपी रात्रि को बाल्यावस्था से आरंभ किया है। बालक को अपरिपक्व बुद्धि प्राप्त होने के कारण उसे खाने, पीने, इत्यादि की भी सुघ नहीं होती। बालक को भूख लगे, ठंडक लगे अथवा पेट में दर्द हो, वह बोल नहीं सकता, केवल रोता है। इसलिए परमात्मा ने उसके माता पिता के चित्त में बच्चे के प्रति मोह का भाव उत्पन्न किया है। इस बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि उसके माता पिता अपने पूर्व संचित संस्कारों के कारण अपने चित्त में जगत् के प्रति मोह का भाव पैदा कर लेते हैं। और उसी कारण उन्हें पुत्र-प्राप्ति होती है। और मोह के ही कारण वे पुत्र के प्रति मोहित हो जाते हैं। जब माता पिता को बच्चे के पालन पोषण के निमित्त विभिन्न प्रकार के दुःख उठाने पड़ते हैं। तो वे उनकी उपेक्षा करके हँसते हँसते उन्हें सहन करते हैं। बालक भी कोई अपनी इच्छा से माता पिता के घर जन्म नहीं लेता अपितु पूर्व संस्कार एवं कुछ लेन देनका संबंध होने के कारण ही माता के गर्भ में आता एवं जन्म ग्रहण करता है। जब तक प्रारब्ध वशात् लेनदेन का संबंध रहता है। तबतक माता अथवा पिता का उस बालक से संपर्क बना रहता है, किंतु लेन देन के समाप्त होते ही संबंध काभी विच्छेद हो जाता है। इस जन्म में भी बालक वही कर्म करता है जिसके उसके पूर्व निर्मित प्रारब्ध तथा चित्त-स्थिति के अनुसार

ईश्वर उससे करवाता है। यह सर्वमान्य सिद्धि है कि राम-नाम स्मरण के अतिरिक्त जीव का प्रारब्ध-विनाश एवं संसार-बंधन से छुटकारे को कोई उपाय नहीं। नाम-स्मरण से ही जीव के चित्त का मैल धुलकर चित्त निर्मल बनता है तथा चित्त के ऊपर पड़ा हुआ अभिमान एवं माया का आवरण उतरकर उसके समक्ष प्रभु प्रत्यक्ष हो जाता है और जीव उस प्रभु में विलीन हो जाता है। जब तक जीव राम-नामस्मरण का सहारा नहीं लेता तब तक सारे संसार की तरह वह भी मृत्यु के मुखमें पड़ता है। काल सिर ऊंचा किए प्रतिक्षण संसार में घूमता फिरता है और संसार की विभिन्न वस्तुएँ, पदार्थ, परिस्थितियाँ प्राणी, जो कुछ भी उसे मिलता है उसे खाता चला जाता है। उस संसार में जो भी वस्तु अथवा प्राणी पैदा होता है उसकी मृत्यु भी अवश्यमावी है। फिर वह जीव जिसने अपने आपको जगत के प्रति आसक्ति होने के कारण, जगत का ही अंग बना लिया है वह जीव मृत्युसे क्योंकर बच सकता है। गुरुनानकदेवजी कहते हैं कि हे प्राणी! यदि आयु-रात्रि के प्रथम प्रहर अर्थात् बाल्यावस्था में ही तुझे संसार बंधन से मुक्ति अपेक्षित है तो तू हरि नामस्मरण का सहारा ले।

(दूजै पहरै रैणि के वणजारिआ मित्र ! मरि जोबनि मैमाति अर्हिनिसि कामि विआपिआ वणजारिआ मित्रा अंधुले नामु न चिति। रामनामु घट अंतरि नाही होरि जाणै रस कस मीठे। गिआनु धिआनु गुण संजमु नाही जनमि मरहुगे झूठे। तीरथ वरन सुचि संजमु नाही करमु घरमु नही पुजा। नानक भाइ भगति निसतारा दुबिधा विआपै दूजा ॥२॥)।

हे बंधारा मित्र! जीवन के आयुरूपी रात्री के दूसरे प्रहर में भरपूर यौवन की मस्ती में मदमत्त रहता है। वह जीव इस प्रहर

में रात दिन काम-वासना के अधीन होकर आचरण करता है। बुद्धि में भ्रम होने के कारण उसे कभी भी हरिनाम-स्मरण की याद नहीं आती। देहात्मबुद्धि के कारण वह भांति भांति के सुस्वादु भोजन के आस्वादन करने के प्रति आसक्त रहता है। और अपने हृदय में नाम-स्मरण का कोई महत्व प्रदान नहीं करता। इस अवस्था में उसके चित्त में परमात्मा के नाम-स्मरण, ज्ञान ध्यान, पूजापाठ इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं और न ही वह विषयों के प्रति संयमित ही रहता है। यों ही मिथ्याचरण में लिप्त जीवन व्यर्थ कर बैठता है। जीवन के इस दूसरे प्रहर में जीव तीर्थ, व्रत, शौच, संयम, धर्म, कर्म, पूजा, आराधना, जप, तप, पठन, पाठन इत्यादि कुछ भी नहीं करता। गुरुजी कहते हैं कि यदि पूर्व निर्मित प्रारब्ध के बशीभूत जीवन के इस प्रहरमें ही प्रभु की कृपा हो जाय तो जीव के लिए इस जगत् के बंधन एवं सुख दुख से मुक्ति संभव है अन्यथा बेचारा जीव अविद्या या माया से आवृत्त होकर अपने कर्मों के प्रति आसक्त और मोहित होकर सुख दुःख के संस्कार संचय करता है। परिणामतः जन्म मरण के चक्र में पड़ा रहता है।

भाव यह है कि जब दूसरा प्रहर अर्थात् यौवन अवस्था आती है तब जीव में काम भाव बढ जाता है। वह उसमें इतना कामांध हो जाता है कि अवसर कुअवसर का विचार न करके येनकेन प्रकारेण अपनी काम-पूर्ति के निमित्त प्रयत्नशील रहता है जितना ही जीव काम-भोग में अधिक लिप्त होता जाता है उतनी ही उसकी वासना बढ जाती है जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने पर अग्नि बढती है, कभी शांत नहीं होती। वह जीव दिन-रात कामासक्त रहता है और इस कारण उसका हरि

नाम-स्मरण के प्रति भगवान् भी नहीं जासता। बुद्ध का उपदेश, आदेश की कुछ वस्तु है इसे वह समझ नहीं पाता। उसकी देहात्मबुद्धि होती है। अपनी देह को अधिक से अधिक सुन्दर और स्वस्थ बनाने के प्रयत्न में लगा रहता है। अपनी जिह्वा की पुष्टि के लिए वह षड्रस भोजनों का रसास्वादन करता है। तरह तरहसे अपने शरीर को सजाता है। इन्हीं बातों में रत रहकर वह अपना संपूर्ण जीवन व्यर्थ नष्ट कर देता है और उसके हृदय में पूजा पाठ, जप, तप, कथा, कीर्तन सद्ग्रन्थावलोकन संयम इत्यादि के प्रति कोई भाव उदय नहीं होता। वह मिथ्याचरण में लगा रहता है, संस्कार संचय करता रहता है अपने चित्त को मलीन और अशुद्ध करता रहता है तथा इस प्रकार आवागमन के चक्र में पडा रहता है। जीव ने जीवन की आयु रात्रि का प्रथम प्रहर खेलने खाने में व्यतीत कर दिया एवं दूसरा प्रहर अर्थात् यौवनाप वस्था भी वह जगतके विषयों को भोगने में समाप्त कर देता है। गुरुजी कहते हैं कि ऐ जीव! तूने बाल्यावस्था तो नष्ट कर दी। भगवान् का नाम-स्मरण नहीं किया। अब यौवन अवस्था में सम्मल जा। इस जगत् के विषयों से उपराम होकर यदि तू भगवान् के भजन में लग जाय, अपने चित्त को निर्मल बना ले तथा चित्त पर पडा अभिमान और माया का आवरण उतार ले जो कि भगवान् की कृपा से ही संभव है, तो तुझे इस जगत् के विषयों से छुटकारा मिल जायगा।

तो जे पहरै रैणी कै वणजारिआ मित्रा सरि हंस उलथडे आइ।
जोबन घटै जरूआ जिणै वणजारिआ मित्रा आंव घटै दिन जाइ,
अंति कालि पछुतासी अंधुले जा जमि पकडि चलाइआ। समु किछ
अपुना करि करि राखिआ खिन महि भइआ पराइआ। बुधि विसरजी

गई सिआणय करि अवगण पछुताई। कहु नानक प्राणी तीजै
पहरै प्रभु चेतहु लिव लाइ॥३॥

हे बनजारा मित्र ! जीवन की अवस्थारूपी रात्रि के तृतीय प्रहर में शरीर-रूपी सरोवर पर हँस आकर बैठ जाते हैं—अर्थात् मनुष्य के सिरपर हंसी की तरह वाल सफेद हो जाते हैं। यौवन व्यतीत हो जाने पर इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लगती है और धीरे धीरे शरीर पर प्रौढ़ अवस्था का प्रभाव बढ़ने लगता है। वह मरमि और मोहित हुआ जीव अंत समय पछुताता है, जब यमदूत इसे आ पकड़ते हैं। अर्थात् मृत्यु निकट आने पर जीव पश्चाताप करता है। वह विचार करता है कि ये संसार जिसे वह अपना अपना कहकर सम्हालकर रखता रहा है। वह क्षण मात्र में पराया हो जाता है। अर्थात् उससे सब कुछ छिन जाता है। यमदूतों के वशीभूत होते ही उसकी विचार-शक्ति कुंठित होने लगती है। सब चतुराई रक्खी रह जाती है तथा वह अपने विकारों को स्मरण करके बार बार पश्चाताप करता है। गुरुजी कहते हैं कि ऐ प्राणी! जीवन-रात्रि के तृतीय प्रहर में ही तुम प्रभु का ध्यान एवं नाम-स्मरण करलो।

भाव यह है कि जीवन-रात्रि के दो प्रहर तो मनुष्य व्यर्थ व्यतीत कर ही बैठता है किन्तु यदि वह तृतीय प्रहर अर्थात् प्रौढ़ावस्था में भी चेत जाए तथा प्रभु का ध्यान, तप, संयम, एवं नाम-स्मरण इत्यादि में अपना मन लगाए तो उसका प्रभु कृपासे कल्याण संभव है किन्तु प्रौढ़ावस्था में भी जीव पूर्ववत् अपने चित्त में जगत के विषयों की वासना, कामना बनाए रखता है। यौवन व्यतीत हो जाने पर उसकी इन्द्रियाँ तो शिथिल हो जाती हैं, भोग विलास भी क्षीण होने लगती है — किन्तु मन की चंचलता फिर भी शान्त नहीं होती। एक ओर उसके चित्त में विषयों के प्रति आकर्षण होता है तथा

दूसरी ओर उसे अपनी आयु-रूपी रात्रि व्यतीत होती हुई दिखाई देने लगती है। इस दुविधा पूर्ण स्थिति में कमी तो जीव का चित्त विषयों में चंचल हो जाता है और कमी मृत्यु को निकट देख कर, जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो जाने के कारण, पश्चाताप करने लगता है। वह सोचता है कि "कमी भी यमदूत मुझे पकड़ कर ले जा सकते हैं। मैं विषयों में रत रहा, प्रभु का नाम-स्मरण नहीं किया। यमदूतों के समक्ष मेरा कोई वश नहीं चलेगा और वे भांति २ की प्रतारणा देते हुए पकड़ कर ले जाएंगे। मैं कितना अज्ञानी हूँ कि मैंने सत्य को पहिचानकर सत्य को प्राप्त करने के निमित्त किसी भी प्रकार का कोई भी प्रयत्न, पुरुषार्थ, समर्पण अथवा गुरुसेवा नहीं की, इत्यादि।' यम दूतों के वशीभूत होते ही बुद्धि का विवेक कुंठित होने लगता है। जगत् की सूझ पड़ना बंद होने लगता है तथा अपने पराए मित्र शत्रु इत्यादि की पहिचान भी समाप्त होने लगती है किन्तु जीव का चित्त पश्चाताप की ग्लानि से भरा होता है। उस समय जीव के नेत्रों से अश्रुपात होता है। वह बार २ अपने को धिक्कारता है किन्तु यम-दूत उसकी छाती पर चढ़े आते हैं। गुरु नानकदेव जी कहते हैं कि आरंभिक दो प्रहर व्यर्थ व्यतीत करने के पश्चात् यदि तीसरे प्रहर में भी जीव सम्भल जाए, सत्कर्म करना, गुरु उपदेशानुसार आचरण एवं नाम स्मरण करना आरंभ कर दे तो उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

चउथै पहरे रैणि कै वणजारिआ मित्रा विरजि मइआ तनु खीणु। अखौ अंधु न दीसई वणजारिआ मित्रा सुणै न वैण। अखी अंधु जीम रसु नाही रहे पराकउ ताणा। गुण अंतरि नाही किउ सुखु पावै मनमुख आवणजाणा। खडु पकी कुडि मजै बिनसै

आइ चले किया माणु । कहु रातक मापी चतुर्थे पहरै गुरुमुखि
सबदु पछाणु ॥४॥

हे वनजारा मित्र ! जीवन की आयु-रूपी रात्रि के चौथे प्रहर में शरीर वृद्ध होकर निःशक्त हो जाता है। उसमें निर्वलता आ जाती है। नेत्रेन्द्रिय एवं कर्णेन्द्रिय शक्ति भी षोखा दे जाती है। हे मित्र ! उसे नेत्रों से दिखाई और कानों से सुनाई देना बंद हो जाता है। नेत्र तो कमजोर हैं ही, जिहवा में भी भोजन का वह रस नहीं रह जाता और इस प्रकार अन्य के प्रति आश्रित होकर अर्थात् दूसरे के सहारे पर निर्भर रहकर ही उसे, अपने शरीर की जर्जरावस्था में भी आयु का शेषभाग विताना होता है। उस मन मुख जीव के चित्त में दैवी गुणों का विकास भी नहीं हो पाता अतः ऐसे जीव को सुख क्योंकर प्राप्त हो। वह बेचारा इसी प्रकार जन्म मरण के चक्र में पड़ा रहता है। शरीर रूपी खेती पक कर झुक जाती है और कमी टूट जाती है। उसके जीने अथवा मरने का जगत् में कोई महत्व ही नहीं रहता। गुरुजी कहते हैं कि तू जीवन के इस अंतिम चरण में तो गुरु के उपदेशानुसार आचरण करके कुछ तो शिक्षा ग्रहण कर।

भाव यह है कि आयु-रूपी रात्रि के चौथे चरण में बुढ़ापा जीव को आ घेरता है। उसमें उठने बैठने, चलने फिरने, अथवा कुछ भी काम करने की क्षमता नहीं रहती। शरीर क्षीण होकर दुर्बल हो जाता है। कुछ जीवों का शरीर कुश हो जाता है तो दूसरों का अत्यधिक भारी। किंतु भारी शरीर देखने मर का होता है। थोड़ा भी चलने पर स्वास फूलने लगता है, जोड़ों में दर्द रहता है हाथ पाँव में कंपन आरंभ हो जाता है और

नैन भी देखना, और कान सुनना छोड़ देते हैं। आंखों पर मोटे शीशे के चश्मे चढ़ जाते हैं और कानों में सुनने की मशीन लग जाती है। दांत झड़ जाते हैं अथवा अत्यंत दुर्बल होकर जिह्वा के रसास्वादन को समाप्त कर देते हैं। उस जीव के पांव लड़खड़ाने लगते हैं लकड़ी का सहारा लेकर अथवा अन्य व्यक्ति का कंधा पकड़ कर धीरे धीरे चलता है। इस प्रकार बृद्धावस्था में पराधीन व्यक्ति को न इस लोक में सुख मिलता है और न ही पुण्य कर्मों के अभाव में उसे अगले जन्म में ही सुख की प्राप्ति होती है जिस प्रकार फसल पक जाने पर फसल के बोझ से पौधा झुक जाता है। उसी प्रकार इस शरीर के पक जाने पर यह शरीर भी झुक जाता है। अर्थात् कमर घनुष की तरह टेढ़ी हो जाती है। अथवा जिस प्रकार फल पकने पर अपने आप गिर जाता है। उसी प्रकार शरीर का भी पात हो जाता है। अर्थात् जीव मृत्यु को प्राप्त होता है। गुरुजी कहते हैं कि ऐ जीव ! तूने जीवन-रात्रि के तीन चरण जगत् के विषयों के प्रति आसक्त रहकर भोग भोगकर सुखी-दुःखी होकर एवं तत्संबंधी संस्कार चित्त में संचित करके उसे मलीन करने में व्यर्थ नष्ट कर दिए।

यह कर चुका, यह कर रहा, यह कल करूंगा मैं।

इस फिक्रो-इन्तजार में, सारी उम्र गुजर गई॥

अर्थात् सारा जीवन सांसारिक कर्मों की चिंता एवं उनके अनुकूल परिणाम की प्रतीक्षा में व्यतीत हो गया। अब जो शेष रहे थोड़े दिन, गुरु के आदेश, उपदेशानुसार आचरण करके तथा गुरु-प्रदत्त नाम का निरंतर स्मरण करके अपने चित्त को शुद्ध कर तथा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त कर।

बाकी रही को दिल की, सफाई में सर्फकर ।
 Digitized by Agamgigam Foundation, Chandigarh
 आसायशे-ए-वजूद में सारी गुजर गई ॥

अर्थात् अभी तक तो हे जीव ! तू अपने शरीर को सजाने
 सँवारने और देह के भोगों को भोगने में रत रहा । शेष जीवन
 तो चित्त-शुद्धिमें में लगा !

ओडकु आइआ तिन साहिआ वणजारि आ मित्रा जरु
 जरवाणा कंनि । इक रती गुण न समाणिआ वणणारिआ मित्रा
 मित्रा अवगण खडसनि वंनि । गुण संजमि जावै चोट न खावै ना
 तसु जंमणु मरणा । कालु जालु जमु जोहि न साकै भाइ भगति
 में तरणा । पति सेती जावै सहजि समावै सगले दुख मिटावै ।
 कहु नानक प्राणी गुरमुखि छूटे साचे ते पति पावै ॥ ५ ॥ २ ॥

हे बनजारे मित्र ! अब तो तेरा स्वास प्रस्वास भी तुझे
 थोरवा देने जा रहा है, जो कि पुरी आयु भर तेरे साथ थे, तू
 पूर्णतया जर्जर है। वृद्धावस्था तुझे घेरे हुए है अर्थात् शारीरिक
 उत्पीडन में जीवन की शेष आयु बीत रही है। मन मुखजीव
 कभी भी सद्गुणों को ओर न झुकते हुए जगत् के विषयों में
 लिप्त रहकर अवगुणों में ही आयु गुजरता रहा। सत्य आचरण
 एवं परमात्मा के नाम स्मरण द्वारा संयमित जीवन व्यतीत करना
 ही यदि तू अपने जीवन का ध्येय बनाता तो आज काल भी
 तुझे भयभीत नहीं करता, गहरी ठेस नहीं पहुँचाता और तू जन्म-
 मरण से भी बच जाता। अर्थात् ऐसा जीव जो मनमुखी होता
 है जब मृत्यु के निकट पहुँचता है तब शरीर, स्वांस की गति
 एवं एक भी सद्गुण न रखकर, अवगुणों में ही जीवन लिप्त किए
 रहता है। यदि वह सद्गुणों को ग्रहण करता हुआ संसारसागर
 से पार होने हेतु भगवान की भक्ति करता रहता तो मृत्यु का

Digitized by eGangotri Foundation, Chandigarh

समय भी उस उत्पादित नहीं करता और गुरु नानक देवजी महाराज कहते हैं कि ऐसे गुरुमुखी जीव को जो अपने विवेक से जीवन-यापन करता रहता है—परमात्मा के दरबार में भी आदर उपलब्ध करता है। अर्थात् परमात्मा उस भक्त-जीव से दूर नहीं, उसके अंतर में ही सदैव व्याप्त रहता है।

भाव यह है कि इन्द्रियां प्राणों से युक्त होकर ही कार्य-शील होती हैं। यदि प्राण की क्रिया रुक जाए तो शरीर और इन्द्रियां मृत हो जाते हैं। इसी प्रकार मन को संकल्प विकल्प करने, बुद्धि को विचार करने, अहंकार को उदय होने तथा संस्काराशय को संस्कार संचय करनेके लिए प्राण की आवश्यकता है। अन्न पाचन करने तथा नाडियों में रुधिर प्रवाहित होने के लिए भी प्राण-शक्ति की आवश्यकता है। उस प्राण-शक्ति की क्रिया का व्यक्त स्वरूप श्वास प्रश्वास की क्रिया है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया बंद होने पर शेष सब क्रियाएँ स्वयमेव बंद हो जाती हैं। और मनुष्य मृत हो जाता है। गुरुजी कहते हैं। कि जीवन के चारों चरण व्यतीत हो गए तथा श्वास प्रश्वास की क्रिया के बंद होने का समय भी निकट आ गया है, जिस प्राण से युक्त होने पर यह शरीर चलता रहा है। । निर्दयी बुढ़ापा कंधे पर आकर बैठ गया है इन्द्रियां बिलकुल शिथिल हो गई हैं। मनमुख जीव आजीवन विषयों में रत रहकर संस्कार संचय करता और सुख दुःख भोगता रहता है। परिणामतः मृत्यु होने पर यमदूत उसे पकड़ कर ले जाते हैं एवं तरह तरह की यातनाएं तथा प्रतारणाएं देते हैं। जो मनुष्य दैवी संपदा संचय करता है, चित्त में सद्गुणों को धारण करता है, चित्त में संचित तमोगुण, रजोगुण मूलक संस्कारों को क्षीण करता है। नामस्मरण

करके चित्त अवेगिर्लभ बनाता है। गुरु के लक्ष्मण-देश-आदि-कर्म के अनुसार आचरण करता है। वह अंत समय यमयातनाओं से बच जाता है एवं उसका आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है। क्यों कि वह व्यक्ति यम-दूतों की पकड़ और पहुंच से बाहर हो जाता है। अतः यमदूत उसे अपने मृत्युजाल में नहीं फंसा सकते। ऐसा उसी मनुष्य के साथ होता है जिसने अपने जीवन - काल में ही अपने चित्त को शुद्ध करके सत्य में प्रतिष्ठा प्राप्त करली हो। ऐसा होना उसी व्यक्ति के लिए संभव है जो भक्ति-भावना के अनुसार चलता रहा हो। जो व्यक्ति परमानंद लाभ कर लेता है वही भगवान के दरबार में सम्मान पाता है एवं सुख-दुख के बंधन से छूट जाता है। गुरुनानक देवजी कहते हैं कि जन्म-मरण के चक्र से छूटने वाले गुरुमुख जीव अपनी विवेक-बुद्धि का आदर करते हुए भगवान के दरबार में सम्मान पाते हैं।

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रति मा कृथा :

सत्यं ब्रूह्य नुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वत् जनम् ।

मान्यान्मानय विद्विषोप्यनुनय प्रच्छादय स्वान्गुणान् ।

कीर्ति पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥

तृष्णा का छेदन कर, क्षमाका सेवनकर, मद को नष्ट कर, पामें प्रेम मत रख, सत्य बोल, सज्जनों के बताये हुए मार्ग पर चल, विद्वानों की सेवा कर, मान देने लायक जनों को मान दे, शत्रुओंको खुश रख, अपने गुणों को छिपाकर रख, कीर्ति की, रक्षाकर, दुःखी पर दया रख—ये संतों के लक्षण हैं।



देवात्म शक्ति

लेखक:- ब्रह्मजीन श्री. १०८ स्वामी
श्री. विष्णुतीर्थ जी महाराज

(गतांक से आगे)

अध्याय-१५ उपासना का रहस्य-भक्ति



पिछले अध्याय में हमने हिंदू धर्म की पंचदेव उपासना पद्धति पर विचार किया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना बहुदेववाद का प्रतीक नहीं है। पश्चिमी विचारकों ने इसे इस रूप में समझने में प्रायः भूल की है। यह एक ही ईश्वर की अवधारणा का किसी भी

अकार से नकार नहीं है। हिंदुओं का यह ईश्वर मुसलमानों व ईसाइयों के भगवान से भी भिन्न नहीं है। हिंदुओं द्वारा ईश्वर नाना रूपों व नामों से पूजा जाता है। इसी उपासना का रहस्य यहां बताया जा रहा है।

हमने लगातार कहा है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में एक साधक जब तक कुंडलिनी जाग्रत नहीं कर लेता तब तक उसकी वास्तविक प्रगति नहीं हो पाती। यह भी बताया जा चुका है कि शक्ति को जाग्रत किये जाने का सुगम उपाय शक्तिपात-दीक्षा है। शक्तिपात, दीक्षार्थी के दक्षिण कान में मंत्र फूंककर किया जाता है। इस मंत्र द्वारा गुरु शिष्य में आध्यात्म का बीज बोता है। इसलिए मंत्र को ऐसा बीज कहा गया है जिसका साधक स्त्री या पुरुष के हृदय में वपन करने पर संबंधित देवता का आकार उभर आता है। यदि साधक को वैष्णव मंत्र दिया गया है तो भगवान विष्णु की मूर्ति उभरेगी व उसी तरह अन्य देवताओं के विषय में भी घटित होता है। इस तरह गुरु, शक्ति व मंत्र की प्रथम त्रयी का निर्माण होता है। इन तीनों को लगभग एक माना गया है व साधक से अपेक्षा की जाती है कि वह इनमें कोई भेद न करे। ईश्वर, गुरु के सूक्ष्म शरीर में वास करता है व उसकी आध्यात्मिक शक्ति मंत्र रूपी बीज में पुंजीभूत होती है। यह आध्यात्मिक शक्ति शिष्य के हृदय में मंत्राधिष्ठ होकर उसमें मंत्र द्वारा आराधित देवता के मूर्तिकरण का कार्य करती है। साधक में उस देवता से संबंधित दिव्य आध्यात्मिक शक्तियां प्रकट होने लगती हैं। इस प्रकार देवता, उसका रूप व उसकी शक्तियों की दूसरी त्रयी का प्रादुर्भाव होता है। एकतरह से गुरु में मौजूद ईश्वर, शिष्य में अवतीर्ण होता है। हमारे यहां

निर्वाणिक ईश्वर बहुसंख्य में है। उदाहरणार्थ-शक्ति स्वरूप

मंत्र स्वरूप, देवता स्वरूप व गुरुरूप आदि। जिस तरह गुरु ईश्वर के साथ आध्यात्मिक ऐक्य स्थापित करता है उसी तरह शिष्य भी इस एकत्व को प्राप्त करता है। यहां वैचित्र्य यह है कि शिष्य यद्यपि ईश्वर से एकत्व स्थापित कर सकता है किंतु ईश्वर रूप गुरु के साथ वह तद्रूप नहीं होता। गुरु व ईश्वर में कोई भेद नहीं किया जाता व इसी तरह मंत्र एवं मं के देवता भी अभिन्न हैं। शक्ति, गुरु, मंत्र आदि सभी रूप गुरु के अस्तित्व में समाविष्ट होकर ईश्वर के ही प्रतिरूप हैं। एक गुरु मंत्र के माध्यम से शिष्य में आध्यात्मिक

करता है। यह मंत्र साधक में सबसे पहिले प्रसुप्त कुंडलिनी के आश्रय स्थल मूलाधार चक्र को सक्रिय करता है। मूलाधार निश्चेष्ट स्वयंभू लिंग का भी आधार स्थान है। अतः मूलाधार के क्रियावान होते ही यह कुंडलिनी को जगाता है जो दूसरे स्वाधिष्ठान चक्र में प्रवेश करती है। एक प्रकार से मूलाधार स्थित स्वयंभू लिंग मंत्र ही है व उसकी शक्ति क्रियावती कुंडलिनी। उसका पहला काम दो विरोधी प्रजनन 'धाराओं' को जोड़ना रहता है। जागृत कुंडलिनी इसके पश्चात् मनुष्य के हृदय में दिव्याकार लेती है। मानव में देवत्व के प्रकटीकरण की यह प्रथम अवस्था होती है। किंतु मनुष्यत्व से देवत्व यात्रा का यह मध्यवर्ती पड़ाव ही है। दैवी प्रेम व सदाचरण के आधार पर यह शक्ति विशुद्ध चक्र अर्थात् परिशुद्धिकरण की अवस्था में पहुंचती है। यहाँ पहुंचकर यह सवाक् हो जाती है। व शिष्य में पड़ा मंत्र बीज अपना मूल आकार ग्रहण कर लेता है। इस केन्द्र पर आकर कुंडलिनी अपनी पवित्र आभा से निखरकर

अंतःकरण से निर्देश प्राप्त करती है व साधक को उन्हें पालन करने के लिये बताती है। इसलिये भ्रुवोर्मध्य के केन्द्र को आज्ञा-चक्र कहा गया है। इस चक्र के नीचे की अवस्थामें जो संदेश प्राप्त होते हैं वे संदेह से परे नहीं होते। किंतु एक बार इस स्थिति के परे पहुंचते ही सभी संदेहों व दुर्विचारों का अंत हो जाता है। इसलिये आज्ञा चक्र के ऊपर ऋतंभरा प्रज्ञा अर्थात् सत्यावेशित ज्ञान की अवस्था बताई गयी है।

प्रातिमज्ञान से आलोकित ऋतंभरा सूर्योदय पूर्व के उषाकाल जैसी होती है। यह सभी ज्ञान, शब्द व वाणी का मूल स्रोत है। इसीलिये सभी मंत्र चाहे वह किसी भाषा के हों, इसी स्रोत से निकलते हैं। शब्द ब्रह्म अथवा "कलमा" का यही अर्थ है। ईश्वर वाच्य शब्द "ॐ" के रूप में उच्चारित होता है। यहाँ तक कि इस्लाम के प्रमुख ग्रंथ कुरान शरीफ का आरंभ भी 'अलम्' अक्षरों 'अ' शब्द से शुरू होता है इसमें 'ल्' अनुच्चारित रहता है। ये तीन अक्षर यद्यपि इस ग्रंथ में अथवा इस्लाम के अनुयायियों द्वारा समझाए नहीं गए हैं किंतु इनका शास्त्रारंभ में व्यापक महत्त्व है। मध्य में अनुच्चारित "ल्" अक्षर रिक्त आकाश का प्रतीक है। वैदिक ऋषियोंने इस स्थान की पूर्ति 'उ' उच्चारण से की है। इसीलिये "अं" से आशय पवित्र ग्रंथ के उस आदि स्रोत से है, जो सभी प्रातिम ज्ञान का मूलकेन्द्र है। सेन्ट जोन ने इसी शब्द को 'टेस्टामेन्ट के पहले पद्यांश में इन शब्दों में प्रकट किया है, "आरंभ में केवल शब्द था और शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ही वास्तव में ईश्वर था।" आज्ञा चक्र में सभी मंत्र चाहे वे किसी भी देवता से संबंधित हों अपने मूल केन्द्र "अं" में मिल जाते हैं। इसीलिये इस शब्द

में देवत्व की विशेषता है। वाणी का संपूर्ण परिक्षेत्र शीर्षस्थ अनुस्वार विदु में मिल जाता है। ऊपर जाकर यह विदु नाद, में, व नाद, कला में संविलीन होते हैं। नाद, शक्ति का परिष्कृत परम् आह्लादकारी रूप है जो अंततः शाश्वत शांति में पर्यवसित होता है। इस तरह "अँ" के अ, उ, म्, विदु नाद, कला व शांति आदि सात स्तर प्राप्त करते हैं। आगे जाकर विदु को ३ भागों में व अंतिम ३ स्तरों में से प्रत्येक को दो प्रभागों में बांट दिया गया है। विदु की स्थिति में नाम का रूप अपना अस्तित्व शेष रखते हैं। किंतु नाद की अवस्था में रूपहीन ध्वनि ही शेष रहती है। कला की स्थिति में केवल शक्ति बचती है जो शांत्यातीतावस्था में विश्रांतिकारी आह्लाद में परिणित होती है। इन चारों अवस्थाओं में से प्रत्येक समाधि की समानांतर स्थिति तक पहुंचाती है। महर्षि पतंजलि ने सविकल्प समाधि की विचार, आनंद व अस्मिता स्थितियों के अनुरूप इनकी व्याख्या की है।

प्रत्येक क्रियाशीलता से उत्पन्न थकान की स्थिति के बाद गतिशील मन विश्रांति की ओर मुड़ता है जोकि वह तरोताजा होकर खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर सके। सामान्य जीवन में इस अवस्था को निद्रा कहते हैं व गहन वेदना की स्थिति में यह अचेतना होती है। किंतु गहन एकाग्रता के पश्चात् समाधि रूपी तंद्रा उपलब्ध होती है। जब कोई व्यक्ति इसे आज्ञा चक्र के नीचे की किसी स्थिति में प्राप्त करता है तो यह तंद्रा एक श्रेष्ठतर निद्रा हुआ करती है। वास्तविक समाधि की अवस्था आज्ञा चक्र में पहुंचने के बाद ही प्राप्त होती है।

विदु की अवस्था में मन, नाम व रूपजन्य बाह्य ज्ञान

शेष रहता है। किंतु उच्चतर भूमिका में यह अर्धचंद्रिका की स्थिति प्राप्त करता है। यह याद रखा जाना चाहिये कि चंद्रमा, मन का प्रतीक है व इस स्थिति में आकर यह अपनी आधी ताकत खो देता है। इससे भी उच्चतर अवस्था में यह समाधि प्राप्त करता है। इस अवस्था को 'निरोधिका' कहा गया है। इसी प्रकार नाद की अवस्था में आकार विलीन हो जाते हैं व ध्वनि अपनी विविधताओं सहित शेष रहती है। इसकी समवर्ती समाधि की स्थिति को 'महानाद' कहा गया है। कला अथवा शक्ति से संबंधित समाधि की अवस्था 'व्यापिका' के रूप में जानी जाती है तथा नीरव चेतनाजन्य समाधि 'उन्मनी' कहलाती है। मन की नीरव निश्चेष्ट चेतनावस्था इसीलिये "समनी" कहलाती है। इसे उन्मनी इसलिये कहते हैं कि मन केवल "समनी" अवस्था तक रहता है, इसके आगे नहीं। समनी का अर्थ ही "मन के साथ होता है।

सभी धर्मों व सभी उपासना के मार्ग ईश्वर के साथ इसी आध्यात्मिक संबंधीकरण को लेकर निर्धारित किये गये हैं। यह वैश्विक चेतना रूप ईश्वर में मन के संविलय से ही संभव है। मानव अस्तित्वका यही लक्ष्य है व इस लक्ष्य की प्राप्ति ही सभी धर्मों का आधार उनकी उपासना का सत्य है चाहे परस्पर के रीति-रिवाजों व प्रथाओं में कितना भी अंतर क्यों न आ गया हो।

अनुवादक - श्री प्रभुदयाल मिश्र ।

याद रखें :- समयावधिमें इस पत्रिकाका शुल्क भेजना एक प्रकारकी सेवा और साक्ष्य ही है ।

पत्रावली

देवास

१३-५-८३

श्रीमान जी.....

शुभ आशीर्वाद,

आपका पत्र प्राप्त हुआ, आपने अपने पत्र में निम्न बातें लिखी हैं (१) मंत्र जप से चित्त शुद्धि होती है, अथवा चित्त शुद्ध होने पर सही मंत्र जप होता है। देखने में ये दोनों बातें विपरित प्रतीत होती हैं, सम्भवतः एक दूसरे की पूरक हों (२) श्री मिश्राजी ने बहुत सुन्दर बात बतलाई कि साधक की साधना तो केवल सही गुरु की खोज है वह मिला कि साधना पूरी हुई। यह देहधारी शरीर कैसे समझे कि सही गुरु कौन है। (३) मां आनन्द मयी जैसी अवतरित महान आत्म जिनसे मैं दीक्षित हुआ ऐसे महान सद्गुरु भगवान को मैं उनके सानिध्य में रहते हुए भी उनके जीवन काल में नहीं समझ सका और मुझे बहुत साधारण जैसी महिला लगती रही, इससे अधिक क्या दुर्भाग्य हो सकता है। (४) इतने पाप तथा संस्कार संचित हैं कि किसी योग्य नहीं बन पाया। ईश्वर तथा गुरु तो सदैव देते ही रहते हैं किन्तु यदि साधक पात्र को उल्टा रखेगा तो वह कैसे भरेगा। (५) मनुष्य एव अनेक मार्गों से जाया करता है कर्म मार्ग, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, प्रधानता किसी एक मार्ग की हो सकती है लेकिन सहायक के रूप में सब मार्गों से सहायता मिलती है या ऐसा लगता है कि सहायक के रूप

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

में अन्य मार्गों को रखना आवश्यक है (६) आज के समय साधारण मनुष्य अष्टांग योग में क्या आसन और प्राणायाम को स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ मन के लिये—ताकि साधन में एकाग्रता आये—आवश्यक है केवल मंत्र जप सेही सब ठीक हो जाता है या साथ-साथ आसन-प्राणायाम भी चलता रहे, तो अधिक सहायक होता है। (७) ऐसा कहते हैं कि प्रारम्भिक साधकों को मंत्र जप दिया जाता है इससे उच्चश्रेणी वालों को लय योग तथा उससे ऊपरवालों को हठ योग तथा उससे ऊपर वालों को सहज योग। अन्ततोगत्वा इन सब विचारों और द्वंदों से गुरु कृपा ही अन्धकार से प्रकाश में ले जाती है।

आपके प्रश्नों के उत्तर में मुझे इतना कहना है कि आप अभी तक साधना के वास्तविक स्वरूप को समझ नहीं पाये। सबसे प्रथम तो मंत्र जप का वास्तविक स्वरूप आपके समक्ष स्पष्ट होना चाहिए। कोई अक्षर समूह (पसंद किये हुए अक्षर) को मंत्र नहीं कहा जाता। जब तक उस मंत्र में शक्ति युक्त नहीं होती। वह मंत्र अचेतन मंत्र होता है, जब मंत्र की शक्ति अथवा देवत्व अथवा मंत्र का रहस्य उसमें जाग्रित हो जाता है तो उसे चेतन मंत्र कहते हैं। जब मंत्र की शक्ति जो सर्वव्यापक शक्ति का एक अंश मात्र होती है तथा जीव के अन्दर व बाहर वही एक शक्ति व्यापक और कार्यरत रहती है। साधक के शरीर एवं चित्त में जाग्रत होकर क्रियाशील हो जाती है तब बाह्य मंत्र-जप गौण होकर शक्ति की आन्तरिक क्रियाएँ जो कि स्वयं सिद्ध होती हैं, आरम्भ हो जाती हैं जिन्हें साधक निरन्तर द्रष्टा भावसे देखता रहता है। वास्तविक नामस्मरण या जप कहलाता है। यह नामस्मरण स्वाभाविक होता है। तथा

प्रतिक्षण साधक में बना रहता है। यह, तावत्साधना अथवा मंत्र चैतन्य की अवस्था दोनों प्रकार से प्राप्त होती है। जप, तप, भजन, पूजन, उपासना, पठक-पाठन इत्यादि के ईश्वर के प्रति समर्पित होकर तथा चित शुद्ध होने पर ईश्वर की कृपा प्राप्त होने पर साधक को मंत्र चैतन्य की स्थिति अथवा निरन्तर नाम स्मरण की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

किसी समय की कृपा कटाक्ष मंत्रोपदेश अथवा संकल्पयुक्त दिव्यस्पर्श के माध्यम से साधक की अन्तर्शक्ति अन्तर्मुखी जाग्रत होने पर उसमें नित्य, निरन्तर साधना की स्थिति प्राप्त हो जाती है। तथा उसमें शक्ति जाग्रत होने के कारण वास्तविक नामस्मरण सदैव बना रहता है इसके बारेमें कोई एक नियम नहीं बनाया जा सकता है ऐसे साधक भी देखने में आये-मले ही बहुत थोड़े सही, जिनकी अन्तर्शक्ति दीर्घकालीन निरन्तर साधना से जाग्रत होकर निरन्तर नामस्मरण स्थिति प्राप्त हुई ऐसे ही अनेकों साधक अपने अनुभव ले आये जिनका चित्त मलिन होते हुये भी केवल गुरु कृपा से उनकी शक्ति जाग्रत होकर निरन्तर नामस्मरण की स्थिति को प्राप्त हुआ।

(२) जो लोग अपनी साधना के लिये गुरु को आवश्यक मानते हैं जैसा कि अधिकांश साधकों का मत है तो उनकी वास्तविक साधनाका लक्ष्य तो केवल मात्र सद्गुरु की प्राप्ति तक ही सीमित होता है। सद्गुरु प्राप्त हो जाने पर तथा उनकी कृपा मिलने पर जब साधक की साधना अन्तर्मुखी हो जाती है तो साधना का उत्तरदायित्व साधक से हटकर अन्तर में जाग्रत शक्ति पर चला जाता है जब तक अपने अन्तर में शक्ति जाग्रत नहीं होती, तब तक साधक विभिन्न प्रकार के जप, तप पूजा-पाठ

एवं पठन-पाठन इत्यादि में श्रम करता है। गुरुकृपा से शक्ति
 जाग्रत होकर सभी साधकों का शक्ति की क्रियाओं में विलीनीकरण
 हो जाता है और साधक सदैव आनन्दमग्न रहने लगता है अतः
 कर्तृत्वामिमानयुक्त साधनाओंका लक्ष्य केवल मात्र एकही होता
 है कि किसी प्रकार गुरु प्राप्ति हो जावे और उनकी कृपा से
 अपनी शक्ति अन्तर्मुखी जाग्रत हो जावे। शिष्य बनने का अधिकार
 प्राप्त करने के लिये हम साधक अपने चित्त में सद्गुणों को ग्रहण
 करते हैं एवं विकारों को त्यागते हैं। चित्त में सत्त्वगुण की वृद्धि
 के लिये विभिन्न प्रकार के साधनों तथा उपासनाओं का अनुष्ठान
 करते हैं। वैसे तो अपने आपको कोई भी शिष्य पूर्णतः अधिकारी
 नहीं कह सकता किन्तु फिर भी अधिकारी बनने का यह हमारा
 प्रयत्न मात्र होता है। ताकि कोई सच्चा साधू, कोई भगवान का
 प्रिय भक्त हमारे पर प्रसन्न होकर हमारी शक्ति अन्तर्मुखी जाग्रत
 कर दे।

यह कैसे समझ में आ सकता है कि हमें सच्चा गुरु मिल गया।
 वास्तविक बात तो यह है कि गुरु की परख शिष्य कदापि नहीं
 कर सकता क्योंकि शिष्य की दृष्टि एवं बुद्धि में विकृतियां होती
 हैं जिस कारण उसे जगत में बड़े से बड़ा महागुरु भी विकार
 ग्रसित दिखाई देता है सामान्य जीवों का स्वभाव दूसरों के अवगुण
 देखना होता है। यदि किसी में अवगुण न हो तो भी अपने हृदय
 की कालिमा के कारण किसी मनुष्य-विशेष में हम विकार आरो-
 पित कर लेते हैं अतः कोई भी गुरु हमारी बुद्धि में भूरा नहीं
 उतरता। हम और साधक किसी भी गुरु पर श्रद्धा स्थापित करने
 में कठिनाई अनुभव करता है।

जिस गुरु के पास जाकर आपको मानसिक शांति प्राप्त हो,

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

WITH BEST COMPLIMENTS

FROM

Saiba Industries Private Limited



**129/131, Kazi Sayed Street,
4th Floor - Bombay-400 008**

Phone : 84 68 95/632 1242/632 90 49

जिस गुरु की दृष्टि में चलता के स्थान पर स्थिरता हो, जो सीधा साधा सरल और स्वाभाविक प्रकृति का हो उसे साधक अपना गुरु बनाने के सम्बन्ध में विचार कर सकता है गुरु की विद्वत्ता, सुन्दर भाषण, लम्बा चौड़ा आश्रम, बड़े घनाढ्य शिष्य लोग और सुन्दर आकृति देखकर किसी को गुरु बना लेना बड़ी भारी भूल है। जब किसी साधक पर गुरु कृपा की वर्षा होती है तो उसे किसी को बतलाने की आवश्यकता नहीं होती। साधक को स्वयंही इस प्रकारकी प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ होने लगती है कि वह अपन आप को परिवर्तित अनुभव करता है। उसके दृष्टि कोण में अन्तर आ जाता है। उसकी अन्तर्चेतना उसके शरीर के आधार पर, किन्तु शरीर से भिन्न क्रियाशील होती, प्रत्यक्ष एवं अनुभवगम्य होती है।

(३) श्री माता आनन्दमई मां के सम्बन्ध में आपने जो अपना अनुभव लिखा है ठीक वैसी ही स्थिति इस जगत में प्रायः मनुष्य की होती है वे गुरु के अन्दर झाँक कर गुरु शरीर में गुरुत्व अथवा ईश्वरतत्त्व तक नहीं पहुँच पाते तथा गुरुओं के बाह्य शरीर मात्र तक ही रह जाते हैं शरीर तो सभी का भौतिक शरीर ही होता है। शरीर रोगी भी होता है उसे भूख भी लगती है, निद्रा भी आती है तथा सुखी दुखी भी होता है। अर्थात् शारीरिक क्रियाएँ तो सभी मनुष्यों की चाहे कोई गुरु हो अथवा सामान्य जीव, लगभग एक समान ही होती हैं। अन्तर उनकी मानसिक स्थिति में होता है। जिसे सामान्य जीव अपने अपने चित्त के दूषित संस्कारों के कारण समझ नहीं पाता तथा शरीर की क्रियाओं तक ही रहकर उसे सामान्य मनुष्य अनुभव करता है। वास्तव में जहाँतक शरीर का सम्बन्ध है सभी शरीर

सामान्य ही होते हैं। उन सामान्य शरीरों में से जिस शरीर में ईश्वरीय शक्ति जाग्रित, प्रकाशित एवं क्रियाशील होकर शिष्यों के कल्याण के लिये कार्यरत हो जाती है उसे गुरु कहा जाता है। गुरु वास्तव में शरीर नहीं होता। जिस प्रकार मन्दिर का बाह्य भवन पूज्य नहीं होता उसके अन्दर प्रतीष्ठित प्रतिमा पूज्य होती है। उसी प्रकार शरीर में जाग्रित गुरुत्व अथवा ईश्वरत्व प्रकाशित होता है। यह बात बड़ी समझने, विचारने की है। आनन्दमयी मां एक सिद्ध पुरुष स्थित महान् आत्मा थी। आप यदि जीवन काल में उनको पहिचान नहीं पाये तो इसमें आपका कोई दोष नहीं क्योंकि सामान्य मनुष्यों का दृष्टिकोण एवं स्वभाव ऐसा ही होता है। अभी भी कुछ नहीं विगडा है, शरीर विलीन हो जाने पर गुरुशक्ति, गुरुत्व अथवा ईश्वरत्व विलीन नहीं हो जाया करता। पहले वह शक्ति शरीर में सीमित रहकर कार्य करती है। जब शरीर विलीन हो जाता है तो वह शक्ति भी सीमाओं से मुक्त चैतन्य से अमिन्नस्वरूप में कार्य करती हुई शिष्यों के कल्याण का कार्य आगे बढ़ाती है। अतः आपको उदास होने की आवश्यकता नहीं है अपने गुरु पर पूर्ण श्रद्धा रखो। आपके गुरु ससीम से असीम, शान्त से अनन्त हो कर अधिक शक्तिशाली और आपका कल्याण करने में कहीं अधिक सक्षम हो गये हैं उनमें श्रद्धा रखो उनके बतलाये मार्ग के अनुसार चलकर अपने जीवन के विकास करने का प्रयत्न करो। गुरुशक्ति आपकी सहायक होगी इसमें संशय नहीं।

(४) जब हमारे जड़ चित्त के साथ आत्मा की चैतन्य शक्ति का संयोग होता है। तथा जड़ चित्त चैतन्यवत् कार्यशील होता है। उसके साथ ही चित्त पर माया अथवा अविद्या का आवरण

आ जाता है। अविद्या का आवरण आ जाने पर जीव की बुद्धि अनित्य में नित्य की भावना—अनात्म में आत्मा की भावना, दुखमें सुख की भावना तथा अपवित्र में पवित्र की भावना हो जाती है। शरीर अनात्म है किन्तु हमारी बुद्धि देहात्म हो जाती है। यह शरीर अनित्य है किन्तु हम इसे नित्य मानने व समझने लगते हैं। जगत् के विषयों में सुख नहीं है। दुख ही दुख है किन्तु जीव उनमें सुख की कल्पना करके उनके पीछे भागता फिरता है। यह शरीर कभी भी पवित्र नहीं होता। किन्तु हम इसको मल पोछकर, स्नानादि करके तथा धूले हुये वस्त्र धारणकर पवित्र मानने लगते हैं। जबकि शरीर के अन्दर गन्दगी के तत्व वैसे के वैसे ही भरे रहते हैं। अर्थात् हमारी बुद्धि उल्टी हो जाती है। उल्टा सोचना, समझना, देखना तथा अनुभव करने लगती है। इसी के अर्धीन हम इस अनित्य एवं मिथ्या जगत् को नित्य एवं सत्य मानकर इसके प्रति आसक्त हो जाते हैं। जगत् का आधारभूत तत्व चैतन्य हमारी दृष्टि में नहीं आता तथा हम इसके नाम रूपात्मक स्वरूप में ही उलझे रहते हैं। बुद्धि का इस प्रकार उल्टा हो जाना पात्र का उल्टा हो जाना बराबर है। जब तक जीव की बुद्धि पर अविद्या का आवरण पड़ा रहता है। तब तक उसकी बुद्धि उल्टा सोचती है, उसका पात्र उल्टा रहता है। वे अन्तर्मुखी विचार नहीं कर, बहिर् दृष्य देखती एवं उस दृष्य के प्रति आसक्त होकर सुखी दुखी होती रहती है।

इसका उपाय अपनी बुद्धि की सोच, समझ और अनुभव को सीधा करना है जो बात जैसी है हमें वैसी ही दिखाई दे। हम अनात्म को आत्म समझना, अनित्य को नित्य समझना दुख को सुख समझना एवं अपवित्र को पवित्र समझना त्याग कर

इस जगत के नाम रूपात्मक स्वरूप से अपने आपको हटाकर
 इसके वास्तविक स्वरूप को पहिचाने। तभी धीरे धीरे हमारी
 बुद्धि सीधी होती जावेगी तथा हमें जो जसा है वैसाही दिखाई
 देने लग जावेगा। बुद्धि की यह स्थिति, बुद्धि पर अविद्याका
 आवरण आने के कारण हुई है तथा चित्त में वे संस्कार, उस
 आवरण को मोटे से मोटा करते चले जाते हैं। अतः बुद्धि
 पर से अविद्या का आवरण उतारने हटाने के लिये जीव को
 आवश्यक है कि चित्त के संचित संस्कारों को अपने प्रयत्न से
 ये संस्कार क्षीण होते जावे। क्योंकि जीव जो भी प्रयत्न करता
 है उसमें उसकी कर्तापन की भावना एवं आसक्ति होने के कारण
 उसके संस्कार संचित हो जाते हैं।

विषय को लम्बा नहीं खींचते हुये मैं सीधा विषयपर आता हूँ।
 इसका उपाय गुरु के निकट जाना तथा कृपा प्राप्त करना है।
 जब गुरु के वीतराग चित्त में विद्यमान आवरण रहित शुद्ध शक्ति
 में प्रस्फुटन होता है तब मंत्र, संकल्प अथवा शिष्य के कल्याण
 का उदय होता है तब गुरु के चित्त की विद्या-शक्ति आगे प्रसारित
 होकर शिष्य के अविद्या-प्रसित चित्त के तादात्म्य में
 आकर अन्तर्मुखी अविद्या से विद्या की ओर अग्रसर एवं कार्यरत
 होती है। यह साधक की साधना, साधक के प्रयत्न गुरुपाथ
 का विषय नहीं रहकर शक्ति का उत्तरदाईत्व हो जाता है।
 तथा उसके चित्त में संचित संस्कार धीरे-धीरे क्रियाओं में
 परिणित होकर क्षीण होते जाते हैं। संस्कारों की क्षीणता के
 अनुपात से बुद्धि पर पड़ा हुआ अविद्या का आवरण भी क्षीण
 होता चला जाता है। जब चित्त में संस्कार अथवा वासना
 पूर्णतः क्षीण हो जाते हैं तब बुद्धि पर पड़ा हुआ अविद्या का

आवरण भी पूर्णतः हट जाता है बुद्धि उल्टी की सुल्टी हो जाती है जो जैसा है वैसा दिखाई देने लगता है - नित्य-नित्य एवं अनित्य-अनित्य दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार आत्म तत्व, सुख का उद्गम तथा पवित्र आत्मा उसके समक्ष हो जाते हैं तथा जगत का नाम रूपात्मक स्वरूप गौण होकर जगत का आधारभूत नित्य तत्व चैतन्य, उसके समक्ष उपस्थित हो जाता है।

निष्कर्ष यह निकला कि अपने पात्र को सीधा करने के लिये अर्थात् बुद्धि की सोच समझ को सीधा करने के लिये जीव को गुरुकृपा प्राप्त करना आवश्यक है। अपने प्रयत्न से अपने पात्र को सीधा अवश्य कर सकता है। किन्तु उसमें मार्ग कंटकाकीर्ण, दुर्गम एवं कठिन है, गिरने की सम्भावना होने पर सम्भालने वाला कोई नहीं। अपने सहारे चलना होता है जो कि अत्यंत कठिन कार्य है। गुरुकृपा प्राप्त हो जाने पर कार्य अपेक्षाकृत कहीं सरल एवं सरस हो जाता है। गुरु से शक्ति, मार्गदर्शन, एवं शंकाओं का समाधान मिलने लगता है। गुरु, माता के समान साधक को बच्चे की तरह सम्भालते हैं।

(५) साधना के दो स्तर होते हैं शक्ति जाग्रति से पूर्व एवं शक्ति जाग्रति के पश्चात्—(१) शक्ति जाग्रति से पूर्व—इस स्तर पर साधक किसी साधना विशेष जैसे भक्तियोग, ज्ञानयोग उपासनायोग इत्यादि का कर्तृत्वामिमान आसक्तियुक्त अनुष्ठान करने में प्रयत्नशील रहता है। इस स्तर पर अनेकों मार्गों का वादविवाद एवं खेँचतान चलती रहती है। कोई भी मार्ग अपने शुद्धस्वरूप में चल पाना कठिन होता है। जैसा कि आपने लिखा है 'प्रधानता तो एक मार्ग की होती है एवं उसी मार्गपर

साधक की साधना का नामकरण किया जाता है तथा अन्य साधन एक, दो या तीन सहायक रूप में साधना का अंग बनते हैं। साधना का यह चुनाव साधक की चित्त भूमिका स्वभाव, योग्यता, क्षमता मानसिक एवं बौद्धिक विकास परिस्थितियां तथा वर्णाश्रम को ध्यान में रख कर किया जाता है। किन्तु एक कठिनाई यह है कि चित्तभूमिका, स्वभाव, योग्यता, क्षमता तथा परिस्थितियां आदि सब की सब परिवर्तनशील हैं जब वे परिवर्तित होती हैं तो साधक की रुचि भी बदल जाती है। पहिले जिस साधक को ज्ञान का उपदेश किया जाता था किन्तु उसकी ज्ञान में रुचि नहीं होती थी। चित्त भूमिका परिवर्तित होने पर वही साधक ज्ञान मार्ग की ओर झुक जाता है। हमने ऐसे कई साधक देखे हैं जिन्होंने चित्त की प्रवृत्ति बदलने पर अपना साधन स्वभावतः ही बदल दिया। (२) शक्ति जाग्रति के पश्चात् इस स्तर पर साधक की अन्तश्चेतना अन्तर्मुखी जाग्रत होकर कार्यशील हो जाती है। साधक आणवोपाय से ऊपर उठ कर शाक्तोपाय में प्रविष्ट हो जाता है। प्रयत्नपूर्वक आसक्ति-युक्त साधना के स्थान पर स्वयं सिद्ध साधन घटित होने लगता है। एवं चित्त में कृतित्वामिमान के स्थान पर दृष्टाभाव उदय हो जाता है। तब अन्तर में — जाग्रत शक्ति चित्त में संचित संस्कारों के आधार पर क्रियाशील होकर साधक के बिना किसी प्रयत्न पुरुषार्थ के स्वतः ही संस्कारों को क्रियाओं में परिणित कर क्षीण करने लगती है। जिस प्रकार के संस्कार संचित होते हैं उसे उसी प्रकार की क्रियाएँ होती जाती हैं। शरीर के आधार पर स्थूल एवं हठयोगमूलक क्रियाएँ, हृदयके आधारपर भक्ति योग की भावुक क्रियाएँ, मन के आधार पर ध्यान

योग की एकाग्रता क्रियायें तथा बुद्धि के आधार पर ज्ञान योग की विचार परब्र क्रियायें अपने आप होने लगती हैं। एक ही साधक कभी ज्ञानी, कभी भक्त, कभी हठयोगी, कभी ध्यानयोगी हो जाता है। एकही साधक कभी कवि, कभी गायक, कभी मंत्र दृष्टा कभी उपासक बन जाता है। अर्थात् सभी प्रकार के मार्गों का समावेश शक्ति जाग्रत होने के उपरान्त प्राप्त स्वयंसिद्ध साधन को सभी साधनों से ऊंचा एवं सभी साधनों का फल वतलाया गया 'फल रूपत्वात्' अर्थात् फलरूपा होने से।

(६) यह तो हम पहलेही वतला आये हैं कि कोई भी साधक केवल मात्र एक साधना का सहारा लेकर नहीं चलता अपितु विभिन्न साधनों की खिचड़ी बना कर खाता है। जप तो प्रायः प्रत्येक साधना में होता ही है। हृदय के आधार पर वही जप भक्तियोग हो जाता है। एवं मस्तिष्क के आधार पर वही जप ज्ञान योग का विषय हो जाता है। तथा मन के आधार ध्यानयोग का रूप धारण कर लेता है। तथा प्राण के आधार पर वही जप कुण्डलिनी योग बन जाता है। इसके अतिरिक्त जप के साथ कोई उपासना कोई पठन-पाठन, विचार कोई आसन-प्राणायाम इत्यादि का अभ्यास करते हैं अतः यह कह पाना अत्यंत कठिन कार्य है कि जप के साथ प्राणायाम का अभ्यास किया जाय अथवा भक्ति का अनुष्ठान अथवा कुछ और। यह तो साधक की आन्तरिक चित्त स्थिति पर आधारित है कि वह साधना का कौनसा तत्व, कितना किस रूप में मिलाकर अपनी साधना का स्वरूप निश्चित करे। यहां पर मैं एक बार पुनः आपको यह स्मरण करवा देता हूँ कि यह सारा वाद-विवाद शक्ति की जाग्रति के पूर्व की स्थिति है।

WITH BEST COMPLIMENTS

FROM

**SM Group of Industries
SM Industrial Marketing Pvt. Ltd.
Vaishu Engg. Industries Pvt. Ltd.
SM Dyechem Pvt. Ltd.**

Manufacturers of :

**COMPLETE TEXTILES PROCESSING
MACHINERIES BOILERS, THERMOPACS, DYES
AND CHEMICALS, AUXILIARIES, PIGMENTS
AND BINDERS.**

**702, Dalmal Towers, 211-Nariman Point,
Bombay-400 021.**

Phone : 22 42 13 • 24 40 16

Branch Offices At :

**DELHI, AHMEDABAD, HYDERABAD, BANGLORE,
BARODA AND CALCUTTA**

(७) सामान्यतया आपका क्रम ठीक हो सकता है, किन्तु हमारे विचार में साधना की प्रारम्भिक अवस्था में साधना का मुख्य आधार भक्ति, जप इत्यादि नहीं होकर कर्म होता है। यदि आप ध्यान से गीता का अध्ययन करें तो उसमें भक्ति, ज्ञान, ध्यान इत्यादि विभिन्न साधनाओं का उल्लेख है किन्तु सभी का आरम्भ कर्म से किया गया है। कर्म का अर्थ यहाँ पर किसी भी प्रकार आसक्त होकर कर्म करना नहीं, अपितु कर्तव्य बुद्धि से भगवान की सेवा मानकर निकाम अनासक्त कर्म करने से है। क्योंकि इस प्रकार कर्म करने से भविष्य में हमारे चित्त में संस्कार संचय का क्रम रुक जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि वर्तमान में हम बन्धन में हैं यह संसार बन्धन आसक्तियुक्त कर्म करते-करते ही उदय होता है। जब तक हम जगत् के प्रति आकर्षित रहेंगे तब तक भगवान का भजन नहीं कर सकते। भगवान का भजन करने के योग्य चित्त को निर्मित करने के लिये जीव को अपना मन संसार से वापिस खींच लेना पड़ता है। अर्थात् जगत् के प्रति वैराग्यवान हुये बिना ईश्वर की साधना असम्भव है। उसके लिये उसे अनासक्त निष्काम कर्म का अनुष्ठान करते हुये सबसे प्रथम अपने चित्त में जगत् के संस्कारों के संचय के क्रम को रोक कर चित्त गुद्धि का मार्ग प्रशस्त करना होता है। इस कर्म योग अथवा गीता की भाषा में प्रवृत्ति मार्ग के साथ-साथ थोड़ा जप अथवा कीर्तन अथवा स्तोत्र पाठ अथवा ध्यान या आसनों का अभ्यास अथवा किसी प्रकार की उपासना लगा दी जाती है। जो कि साधक की चित्त भूमिका के अनुसार या तो साधक स्वयं चुनता है अथवा गुरु के मार्गदर्शन में इसका निर्णय होता है। ये सारी बातें शक्ति जाग्रति से पूर्व की अवस्था की है जैसा कि मैंने ऊपर कहा है।

शक्ति जगत् के उपरांत यह ब्रह्म-विवाद समाप्त हो जाता है तब तो जैसे-जैसे संस्कार अन्दर से बाहर निकलते जाते हैं वैसे साधक को स्वयंमेव अनुभव होने लगता है साधक का यदि कोई प्रयत्न है तो केवल मात्र चित्त में संस्कारों के संचय के क्रम को रोकने तक सीमित होता है। संस्कारों का क्रम रोकना एवं पूर्व संस्कारों को क्षीण करना। बाकी तो आत्मा पहिलेसे ही हमारे अन्दर विद्यमान है। कहीं बाहर लाकर उसे नहीं डालना है। जहां चित पर से आवरण हटे कि आत्मप्रकाश छलकने लगता है।

शुभचिन्तक

— शिवोमतीर्थ

नलिनी-दल गत जलमपि तरलम्,

तद्वत् जीवितम् अतिशय चपलम्

विद्धि व्याध्यामिमान-ग्रस्तम्

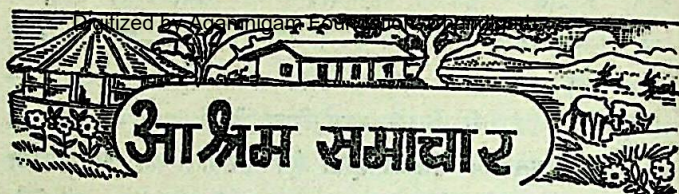
लोकं शोक-हतं च समस्तम्

जीवन कमल के पत्ते पर पड़े हुए पानीकी तरह अत्यंत ही चंचल है। तू यह समझ ले यह सारा संसार बीमारियों, अभिमान और शोकसे घिरा हुआ है।



देवात्म शक्ति

४९



परमपूज्य श्री स्वामीजी महाराज अपने पूर्व निश्चित कार्यक्रमानुसार माह नवम्बर :-८३, में दुर्ग में भ्रमण पर थे उस समय स्वास्थ्य में कुछ खराबी अनुभव हुई। डाक्टर से जांच कराई तथा डाक्टर ने हाई ब्लड प्रेशर एवं डायबीटीज होना बताया। डाक्टर ने यह भी सलाह दी कि अत्यधिक प्रवास नहीं किया जाय। तथा कुछ समय पूर्ण विश्राम किया जावें। इस कारण परम पूज्य श्री महाराज जी दुर्ग से नागपुर छिदवाडा होकर आगे का प्रवास निरस्त कर भोपाल पधारें। भोपाल में भी डाक्टर द्वारा जांच कराई गई। वहां के डाक्टर ने भी इसी प्रकार सलाह दी। भोपाल से दिनांक :- १४-१२-८३ को देवास पधारें।

विश्राम के लिये परम पूज्य श्री महाराज श्रीने ऋषिकेश जाना तय किया। देवास से दिनांक :- २०-१२-८३ को ट्रेन से ऋषिकेश के लिये प्रस्थान किया। दिनांक :- २१-१२-८३ को दिल्ली पहुंचने पर वहां डाक्टर प्रेमकुमार जी मिश्रा ने आग्रहपूर्वक वहीं उतार लिया।

दिल्ली में स्वास्थ्य में कुछ खराबी हुई। वहां पर पुनः स्वास्थ्यका परीक्षण करवाया गया। तथा उपचार करवाया गया।

को ऋषिकेश पधारे। वहाँ पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं अन्य स्थानों से भक्तों का आना जाना चलता रहा। ऋषिकेश में औषधिके बजाय सुबह एवं सायंकाल टहलना, आहारपर नियंत्रण, आदि चलता रहा। इससे स्वास्थ्य भी ठीक रहा। परम पूज्य श्री. महाराज श्री. दिनांक ७-२-८४ को ऋषिकेश से निकल कर दिनांक ११-२-८४ को देवास पधारे।

देवास आश्रम पर दिनांक " २७-२-८४ से २९-२-८४ तक महा शिवरात्रि उत्सव मनाया गया। बहुत साधकोंने सोत्साह भाग लिया। परम पूज्य श्री महाराज श्री तबतक देवास में ही बिराजेंगे। मार्च १९८४, से आगे का कार्यक्रम निम्नानुसार बनाया है। देवास आश्रम पर परम पूज्य महाराज जी का जन्म दिवस २१-१-८४ को सानन्द सोल्लास मनाया गया। आश्रम में श्री शंकर भगवान का रुद्र अमिषेक तथा परम पूज्य श्री. महाराज श्री. के चित्र का पूजन आरती आदि कार्यक्रम हुअे।

सम्प्रति परम पूज्य श्री. महाराज श्री. का स्वास्थ्य अच्छा है। आसन, सायं, प्रातः टहलना, मिताहार एवं खाने में परहेज चल रहा है। अब स्वास्थ्य अच्छा है।

परमपूज्य स्वामी शिवोम् तीर्थ जी महाराजका संक्षिप्त प्रवास कार्यक्रम

३-३-८४ से ३०-६-८४ तक.

३-३-८४ देवास से भोपाल-रायसेन

७-३-८४ रायसेन से बाबई—श्री शिवोम् कुटिरपोस्ट—बाबई
जि. देवास (म. प्र.)

२०-३-८४ बाबाई से देवास

२२-३-८४ देवास से अमलनेर C/o. बी. एल. शुक्ल, लक्ष्मीपुरा
अमलनेर, महाराष्ट्र ४२५००१

देवात्म शक्ति

३०-३-८४ अमलनेर से बंबई C/o. अनिल सी. पटेल ११.
अशोक, एडनवाला रोड, माटुंगा बाम्बे-४०००१९

१५-४-८४ / १७-४-८४ बंबई से पूना

१८-४-८४ पूना से बंबई

२०-४-८४ २१-४-८४ बंबई से भोपाल-रायसेन

२३-४-८४-२४-४-८४ रायसेन भोपाल से दिल्ली २५-४-८४
दिल्ली से ऋषिकेश योग श्रीपीठ Co. विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश,
२४९२०१ (उ.प्र.) ऋषिकेशमें श्री परशुराम प्रकाश ब्रह्मचारी
को सन्यास-दीक्षा दी जायगी ४-५-८४ को (अक्षय तृतीया
के दिन)

१५-५-८४ ऋषिकेश से मोरेना C/o. नारायण निवास-फिश-
रीज फार्म के सामने ए. बी. रोड, मोरेना ४७६००२ (म.प्र.)

२२-५-८४ मोरेना से ग्वालियर

२२-५-८४ - २-६-८४ ग्वालियर सिरसोद - ग्वालियर

३-६-८४ ४-६-८४ ग्वालियर से रायसेन

४-६-८४ से १४-६-८४ रायसेन पडाव

१५-६-८४ रायसेन से देवास

१६-६-८४ देवास से उदेपूर (राजस्थान)

२०-६-८४ उदेपूर से अजमेर (राजस्थान) C/o. डी. जे
सामंत महाराष्ट्र मंडळ के पास, कचेरी रोड, अजमेर

२३-६-८४ अजमेर से जयपुर (राजस्थान) C/o गिरिराज
प्रसाद झालाणी, गोपीनाथ रामलालजी झालाणी हाऊस, नाहर गरहा
रोड, जयपुर.

२६-६-८४ जयपुर से अलवर (राजस्थान)

२८-६-८४ अलवरसे कोटा (राजस्थान)

३०-६-८४ कोटा से देवास (म. प्र.)

३०; ६-८४ से आगे देवास में वास

नोट :- गुरुपौर्णिमा १३-७-८४ को है कार्यक्रम ७ दिन पहले से शुरू
होगा । गुरुजीका स्वास्थ्य अच्छा है ।

—: शक्तिपाताचार्य :—



॥ ब्रह्मलीन श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थजी महाराज ॥

- १ ॐ जय दक्षिणा मूर्ति, गुरु जय दक्षिणा मूर्ति ।
करत अनुग्रह शिष्य वर्ग पर, फैली जग कीर्ति ॥ ॐ
- २ दृष्टिपात, संकल्पमात्र से जगती कुण्डलिनी ।
क्रियावती क्रीड़ाएँ करती, जायं न जो वरणीं ॥ ॐ
- ३ पटूचक्रों को बेध, ऊर्ध्व गति प्राणों की होती ।
दिव्य मौन उपदेश जगाता, निष्ठा की ज्योति ॥ ॐ
- ४ निर्मल मन निष्कामभाव से, शक्ति को ध्यावे ।
ब्रह्म ज्ञान कर प्राप्त, छूट भव-बन्धन से जावे ॥ ॐ
- ५ करिय कृपा गुरुदेव ! दास को अटल भक्ति दीजे ।
भुक्ति-मुक्ति कर दान, दीन को पूर्णकाम कीजे ॥ ॐ
- ६ प्रतिपल प्रीति बढे चरणों में, हो न कभी तृप्ति ।
सात्त्विक भाव बढे क्षण-क्षण में, बढे ज्ञान दीप्ति ॥ ॐ
- ७ जिनके दृढ विश्वास, चरण तजि आश नहीं दूजी ।
निश्चय बनि अधिकारी, पावे, महायोग पूंजी ॥ ॐ
- ८ गुरु-पद-पद्म-पराग सुअञ्जन जो नयनन अंजे ।
दिव्य दृष्टि कर प्राप्त, तापत्रय अर्थ निमिष भाजें ॥ ॐ
- ९ कैसे करें प्रार्थना गुरुवर ! हम सब अज्ञानी ।
स्वयंसिद्ध शुभ साधन दीजे श्री गुरु विज्ञानी ॥ ॐ

: मंत्र पुष्पाञ्जलि :

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्मज्ञां प्रथमान्यासन् ।
तेहनाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥१॥

ॐ राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे ।
समे कामान् कामकामाय मह्यम् कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु ।
कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः ॥२॥

ॐ स्वस्ति साम्राज्यं भोज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं,
महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायै स्यात् । सार्वभौमः
सार्वायुषः आन्तादापरार्थात् प्रथिष्यै समुद्रपर्यन्ताया एक राडिति ।
तदप्येष श्लोकोऽभिगीतो । मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसनग्रहे ।
आविक्षितस्य काम प्रे विश्वेदेवाः सभासदैति ॥३॥

ॐ एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् ।

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

ॐ परमहंसाय विद्महे महाहंसाय धीमहि तन्नो हंसः प्रचोदयात् ।

देवात्मशक्ति

यत्र शक्तर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ।

वर्ष : ३] १५ जुलै-अगस्त-सितम्बर १९८४ [अंक : ३

प्रेरणा के स्रोत :

शक्तिपात प्रवर्तक श्री स्वामी नारायण तीर्थदेव जी ।

शक्तिपाताचार्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ॥

उद्देश्य :

लोककल्याणार्थ सिद्धसाधन शक्तिपात सम्बन्धी गवेषण,
अनुसन्धान एवं ज्ञातव्य-प्रकाशनादि द्वारा श्रेयपथप्रशस्ति ॥

वार्षिक शुल्क —

दस रुपये—

आजीवन सदस्यता शुल्क :

भारतमें : २५१ रुपये — विदेशमें : १०० डॉलर

प्रकाशन मास :

फरवरी, मई, अगस्त, नवम्बर

प्रकाशन स्थल :

स्वामी विष्णुतीर्थ शिक्षा प्रतिष्ठान

Adv. Vidit Chauman Collection, Noida

२ ए, चर्चगेट मेन्शन, 'ए' रोड,

चर्चगेट, बम्बई-400020.

Phone — 295272

* इस अंक में *

१. देवात्म शक्ति (हिंदी अनुवाद) श्री. प्रमुदयाल मिश्र
२. गुरुवंदना स्वामीश्री शिवोम् तीर्थजी
३. श्री गुरुग्रंथसाहिब - स्वामीश्री शिवोम् तीर्थजी
४. प्रश्नोत्तर , "
५. पत्रावली , "
६. आश्रम समाचार....मंत्री श्री नारायण कुटीन्यास सन्यास
आश्रम - देवास (म. प्र.)

❧ नियमावली ❧

१. ग्राहक सदस्यता जनवरी से ही पूरे वर्ष के लिए आरम्भ होगी। बीचमें सदस्य बननेवालों को उस वर्ष के पिछले अंक उपलब्ध होंगे तो भेज दिये जायेंगे।
२. लेखकों से निवेदन है कि रचनाएँ कागज की एक ही ओर पर्याप्त हाशिया छोड़कर स्वच्छ अक्षरों में लिखकर भेजें।
३. लेखक अपनी रचनाओं की प्रतिलिपि अपने पास रख लें। अस्वीकृत रचनाओंको वापस भेजनेका प्रबंध नहीं है।
४. लेखों के परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, छापने अथवा न छापने का पूरा अधिकार मुद्रक-प्रकाशक तथा सम्पादक को है।
५. पत्रव्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।
और उत्तर पाने के लिये डाकव्यय भी अवश्य भेजें।
६. पत्र-व्यवहार तथा शुल्क भेजने का पता प्रकाशन स्थान है।
अभी तक शुल्क नहीं भेजा हो तो, कृपया सत्वर भेजिये।
७. पता बदल जाने पर शीघ्रातिशीघ्र पत्र लिखें।



देवात्म शाक्ति

ले. : ब्रह्मलीन श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थजी महाराज

अध्याय-१६ गुरुतत्त्व व भगवान्

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिमंविभाजिने ।

व्योमवत्त्रयाप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥

(आत्मा आध्यात्मिक गुरु व ईश्वर देहाकाश में शून्यवत् वास करते हैं। उन्हें केवल आकार ही विभाजित करता है। ऐसे दक्षिणामूर्ति भगवान् को नमस्कार है।



एक योगी अपने गुरु की मूर्तरूप ईश्वर की तरह पूजा करता है जो उसके हृदय में गुरु तत्त्व के रूप में वास किया करता है।

उसके लिये ये दो आकार वस्तुतः एक होते हैं। वह साधक की देह में वास करनेवाली आत्मा के समान है। यह एक, जो तीन रूपों में प्रकट होता है, उसे ही दक्षिणामूर्ति कहा गया है। यह शिव का एक नाम है, जो गुरु रूप में मनुष्य के हृदय में वास करता है। योगदर्शन के अनुसार गुरु तत्त्व की धारा कालसे अबाधित है। अतः गुरु वर्तमान या भूतकालिक नहीं होता।

इस प्रकार ईश्वर गुरु के रूप में साधकों की सहायता करता है। गुरु ईश्वर को अपने हृदयस्थित अनुभव करता है। वास्तव में

ऐसे ही ज्योतिषगुरु ब्रह्म की भावना रखते हैं जो गुरु शक्तिपात द्वारा शिष्यों को दीक्षित करते हैं, वे शिष्योंकी प्रसुप्त शक्ति जगा देते हैं। इस प्रकार वह शक्ति तत्त्व ही वास्तविक गुरु है। जोकि वास्तव में ईश्वरीय सत्ता होती है। उपनिषदों का कथन है "उन ब्रह्मवादियों में जो ईश्वर को जानते थे, ध्यानावस्था में उसे ईश्वरीय शक्ति के रूप में देखा। पूर्व में यह अपने ही गुणों से आच्छादित थी। उन्होंने तब यह समझा कि ब्रह्म जो कि एकमात्र अवीक्षक है, विश्व और समय की सत्ता का कारणभूत आधार है।

यह दैवी शक्ति सृष्टि का मूल कारण है व सृजनधर्मी है। इस तरह ईश्वर सृष्टिका अवीक्षक व उसकी दैवी शक्ति सृष्टि रचना का भौतिक उपादान है। इस शक्ति से इच्छा शक्ति ज्ञान व क्रिया की त्रयी विनिर्मित होती है। जिन लोगों की चेतना दैवी-प्रेम व सत्कर्मों से पवित्र हो जाती है, उनके हृदय में यह शक्ति दैदीप्यमान हो उठती है। किंतु जो लोग क्रोध, घृणा व अन्यान्य रजोगुण तथा तमोगुण में वास करते हैं, उनमें यह प्रकाशित नहीं होती है। एक योगी के लिये यह शक्ति, अर्जुन के लिये कृष्ण, रथ के लिये रथी व मार्गी के लिये पथप्रदर्शक का कार्य करती है। उसकी गति, उसका आधार स्थित अपना आकार है। आध्यात्मिक ज्ञान स्वरूपिणी कुंडलिनी उसका निवास है व इच्छाशक्ति, उसके आध्यात्मिक, भौतिक व कारण शरीरों की सेविका है। इसीलिये उसे त्रिपुर-सुंदरी कहा गया है। वह स्वतः मात्र मूल कारण है इसलिये उसे गुरु तत्त्व कहा गया है। भावनोपनिषद् के अनुसार श्री गुरु संपूर्ण कारण-भूत शक्ति है। क्रिया शक्ति उसका पीठ है। ज्ञान शक्ति रूपी कुंडलिनी उसका द्वार है। इच्छा शक्ति महा-त्रिपुर-सुंदरी है।"

हजार पंखुडियोंवाले शीर्षस्थ सहस्रार के मध्यमें एक त्रिमुजाकार
 गुरु चक्र स्थित है, जो इच्छा ज्ञान और शक्ति की रेखाओं से
 बनता है। इसके केन्द्र में परम कारणभूत गुरुशक्ति मध्य-विन्दु
 है। यह तीनों शक्तियां एक दूसरे से पृथक् कार्य नहीं करती है
 किंतु एक की प्रधानता में दो गौण होकर कार्य किया करती है।
 क्रियाशक्ति की प्रधानता में अन्य दो शक्तियां प्राणसंबंधी कार्य,
 इच्छा शक्ति की प्रधानता में स्नायु संबंधी और ज्ञान शक्ति की
 प्रधानता में ज्ञानेन्द्रियों संबंधी कार्य संस्थान क्रियाशील होता है।
 ज्ञान शक्ति सभी क्रियाओं को नियंत्रित करती है। इसलिये जब
 कुंडलिनी प्रसुप्त अवस्था में रहती है तो आध्यात्मिक चेतना भौतिक
 शक्तियों से परिवेष्टित रहती है। व आत्मा बंधनग्रस्त प्रतीत
 होती है। जब इसे जगा दिया जाता है तब वह आध्यात्मिक चेतना
 के रूप में उद्घाटित होकर गुरु का कार्य आरंभ कर देती है।
 षट्चक्रों का आंशिक वेध केवल आध्यात्मिक चेतना को आंशिक
 रूप से प्रकट करता है व उस स्थिति में गुरु तत्व अपनी संपूर्ण
 आभा में प्रकट नहीं हो पाता। संदेहों के घेरे में उसकी सही
 प्रकृति अनिश्चित बनी रहती है। यह अवस्था योगी के मार्ग का
 बहुत बड़ा व्यवधान है, जबकि यह वर्षों तक इसी तरह कायम रह
 सकती है। यदि एक गुरु के द्वारा स्वतः गुरु तत्व का साक्षात्कार
 नहीं कर लिया जाता तो उसके द्वारा दीक्षित शिष्य अतृप्त व अशांत
 होते हैं। इसलिये प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि वह गुरु की
 योग्यता की सही परीक्षा कर ले। बहुत से मामलों में ऐसे अव-
 रोध साधक में उसकी अपनी अक्षमता व गुरु में अविश्वास से भी
 उत्पन्न होते हैं। सामान्यतः आज्ञा-चक्र के आंशिक वेध के साथ
 ही गुरु तत्व प्रकट होने लगता है व उसे हृदय और वाणी में
 अनुभव किया जाता है। आज्ञा-चक्र के संपूर्ण भेदन से इन सभी

देवात्म शक्ति

संशयों का निवारण हो जाता है। विशुद्ध चक्र के भेदन से गुरु तत्त्व प्रगट होने लगता है व आज्ञा चक्र के स्तर पर वह साधक हो अंतःकरण की आवाज व आत्मिक प्रकाश से उत्पन्न मार्गदर्शन प्रदान करता है। ऐसे व्यक्ति का तृतीय नेत्र खुल जाता है। जिस व्यक्ति में गुरु तत्त्व पूरी तरह से प्रकट हो जाता है, वह आध्यात्मिक गुरु परंपरा कायम करने में सक्षम माना जाता है।

ईश्वर-तत्त्व

योग दर्शन में ईश्वर की परिभाषा इस प्रकार की गयी है:-

“ईश्वर ऐसा पुरुष विशेष है, जो क्लेश, कर्म व इनके मन पर पड़नेवाले प्रभाव के परिणामों से मुक्त रहता है।” २४

“इसमें सर्वज्ञता का बीज स्थित होता है जो कि विकसित होने पर समस्त सीमाओं का अतिक्रमण कर लेता है। २५.

“वह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु है। समय उसकी निरंतरता को नहीं तोड़ पाता है।

“प्रणव (ॐ) उसका वाचक है।”

इस प्रकार “योगदर्शन” के अनुसार ईश्वर यद्यपि पुरुष है किंतु वह साधारण बंधनग्रस्त जीवधारो से भिन्न है। वह सभी जीवधारियों की देह में वास करता है। वह वास करता रहा है व ऐसा कोई समय नहीं था जबकि वह वास नहीं कर रहा था। वे विशेषताएं जो उसे विशिष्टता प्रदान करती हैं इस तरह ये हैं:-

१-वह निश्चय ही देहधारियों में वास करता है किंतु अन्य प्राणियों की भांति वह अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष व जीवेषणा को पीछा पंच क्लेश व इनसे उत्पन्न सत् और असत् कर्म, माग्य तथा दुर्माग्यरूपी फल व उनके आधार पर संचित संस्कार, आदि से वह मुक्त है।

२-वह सर्वज्ञ है। वह भूत, भविष्य व वर्तमान का सूक्ष्माति-

सूक्ष्म तथा विस्तार सहित तात्कालिक ज्ञाता है। उसके ज्ञान की परिधि सभी काल, स्थान व कारणों का अतिक्रमण कर जाती है।

३-ईश्वर सभी प्राणियों के हृदयमें गुरु रूप में वास करता है। उसका नाम "ॐ" है। उसके इस पवित्र नाम के जप व ध्यान से अज्ञान का समस्त अंधकार विलीन हो जाता है।

गुरु तत्व से ईश्वर को उपर्युक्त सभी विशेषताएं अभि-प्रमाणित होती हैं। इसे जब एक व्यक्ति अपने लक्ष्य में पह-चान लेता है तब वह मानवीय गुरु देह में अवतरित हो जाता है। यह मानव का वास्तविक दैवीकरण है। इस प्रकार गुरु तत्व साधक, गुरु और इष्ट देवता का मिलन बिंदु है। कभी शिष्य अपने आपको ईश्वर से तदाकार पाता है और कभी-कभी ईश्वर से पृथक्। किंतु गुरु से तद्रूप अनुभव करता है। अंततः समाधि की अवस्था में पहुंचकर यह त्रयी टूटती है।

मुंडक उपनिषद् में ईश्वर व जीव को एक पक्षी युगल के रूप में चित्रित किया गया है। वे एक ही वृक्ष पर बैठ हुए हैं। इनमें से एक फलास्वादन कर रहा है, जबकि दूसरा केवल देख रहा है। इसमें यह भी कहा गया है कि जब जीव दूसरे को अपनी स्थिति में तल्लीन देखता है तो वह भी वैसा ही हो जाता है। ये श्लोक बहुत सारगर्भित हैं, अतः नीचे उद्धरित किये जा रहे हैं:-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (३. १. १)

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः । २।

(३. १. २)

देवात्म शक्ति

यदा पश्यः पश्यतेरुक्मवर्णकर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।

तदा विद्वान्पुण्यपाणे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥ (३.१.३)

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ (३.१.४)

दो मित्र-युगल पक्षी एक ही वृक्ष की शाखा पर बैठे हैं ।

इनमें से एक फल का आस्वादन करता है । दूसरा न खाते हुए केवल देख रहा है । (३, १, १,)

उस वृक्ष पर स्थित सांसारिक भोगों में आसक्त पुरुष अपने दोषों के लिए दुःख से निमग्न होकर पश्चात्ताप करता है । जब वह ईश्वर को अपनी भक्तिक्षुधा वैभवपूर्ण स्थिति में संतुष्ट देखता है तो वह भी दुःखों के पार चला जाता है ।

जब दृष्टा स्वर्ण आभायुक्त सृष्टा, पुरुष व वेदों के जन्मदाता ईश्वर को देखता है तब उसे विद्वान के पापों तथा पुण्यों का क्षय हो जाता है, पुण्य बढते हैं व ब्रह्म से सानिध्य हो जाता है । (३.१.३)

विद्वान्, उसे जो प्राण है, जो सभी प्राणियों में प्रकाशित है, जान लेने पर बौद्धिक संवाद छोड़ देता है व अपने अन्तर में निमग्न होकर आत्मरत हो जाता है । वह अपनी "क्रिया" में खोया रहता है । वास्तव में वही ब्रह्मविदों में वरिष्ठ है । (३.१.४)

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है कि इस संदर्भ में वर्णित देवीं शक्ति वस्तुतः गुरु तत्त्व ही है ।

एक योगी जो गुरु तत्त्व प्राप्त कर लेता है, सभी ईश्वरीय आधारों सहित इस पर ध्यान कर सकता है । वह गुरु तत्त्व के दिव्य प्रभाव में अपने मन व हृदय को आश्रित कर ब्रह्म से तदा-कारता स्थापित कर सकता है ।

आत्मा, गुरु तत्त्व अथवा ईश्वर की संप्राप्ति साधक की बुद्धि में प्रकट होती है। किंतु इस बुद्धि को तमोगुणी व रजोगुणी दोषों से पूरी तरह से मुक्त होना चाहिए। इस संदर्भ में कठ् उपनिषद् (६, ५) पर आदि शंकर का भाष्य उल्लेखनीय है। "यथादर्शं तथात्मनि", अर्थात् निर्मल दर्पण रूपी बुद्धि में ही सच्चा आत्म - साक्षात्कार संभव है।

अध्याय १७ वाँ

ज्ञान ब्रह्म की प्राप्ति

ईश्वर सभी प्रकार के ज्ञान का भंडार है। वह विश्व के प्रत्येक कण में परिब्याप्त है व सभी वस्तुओं को संचालित करता है। तथा उनकी जानकारी रखता है। किंतु वास्तव में उसे बहुत कम लोग जान पाते हैं। वस्तुतः संपूर्ण अस्तित्व उसकी सर्वज्ञाता आत्मा की प्रतिच्छाया है। इसीलिये ईश्वर प्राप्ति से मनुष्य सर्वज्ञ व संपूर्ण हो जाता है। ईश्वर के संपूर्ण अस्तित्व के स्रोत व सार-भूत होने के कारण ईश्वर से पृथक् होने पर ज्ञान की प्रत्येक विद्या उससे उलग होते ही अपूर्ण हो जाती है। नाम व रूप के सभी आकार वस्तुनिष्ठ है व इसलिये इनसे संबंधित ज्ञान, ज्ञाता की दृष्टि पर बहुत कुछ निर्भर करता है। वस्तुओं के बोध को यह भिन्नता इन्हें एक मायिक का स्वरूप देती है, इसी लिये संसार को "माया" कहा गया है।

ज्ञान से ज्ञाता व ज्ञेय का अस्तित्व उपजता है। हमारे सौर्य-मंडल के सूर्य से भी बड़े अनेक सूर्य उनके ग्रह व उपग्रहों से युक्त यह विराट ब्रह्मांड हमारी समष्टि चेतना की अभिव्यक्ति है। जानने-वाला और जानने योग्य दोनों ही एक चेतना के वस्तुनिष्ठ व

व्यक्तिनिष्ठ पहलू है। स्वप्न की व्याख्या द्वारा इस सत्य को और अच्छी तरह से समझा जा सकता है। स्वप्न में वस्तुनिष्ठ पक्ष नहीं होता। स्वप्न लोक में व्यक्ति का वैयक्तिक व वस्तुनिष्ठ पक्ष साथ साथ उदित होकर एक ही साथ विलीन हो जाते हैं। विश्व चेतना वैयक्तिकसंदर्भ में समय, स्थान व कार्य-कारण के आधारपर सीमाओं में बंध जाती है तथा व्यक्ति व पदार्थ में विभाजकता की अवास्तविक रेखा खींच देती है। जब चेतना नाम व रूपों से जुड़ जाती है तब वस्तुनिष्ठ होती है व जब वह व्यक्ति से जुड़ी होती है तब व्यक्तिनिष्ठ होती है। ईश्वर विशुद्ध चेतना के रूपमें बीज-रूप सृष्टा है, जोकि संपूर्ण पदार्थ, संसार और वैयक्तिक विद्याओं का आदि-स्रोत है। वैयक्तिक चेतना समष्टि चेतना की ही एक किरण है, पदार्थ उसकी एक प्रति-छाया है। यह एक विचित्र सत्य है कि वैयक्तिक सत्ता की यह किरण छाया पदार्थ को वास्तविक मानकर उसे प्राप्त करना चाहती है। इस तरह आत्म साक्षात्कार द्वारा एक मनुष्य ज्ञान के मूल स्रोत इस समष्टि चेतना तक ही वापिस पहुंचता है।

सभी तरह के शोध प्रयोगों में एक विद्यार्थी प्रकृति के व्यवहार का अध्ययन करते हुए यह मानता है कि उसके द्वारा संचित ज्ञान बाहर से आया है। उसे लगता है कि प्रकृति के जिन पदार्थों का उसने विश्लेषण किया है, उसे आवश्यक ज्ञान दे रहे हैं। परिणामतः वह अपने वैयक्तिक पथ को गौण मानता है व उसे प्रकृति आश्रित महसूस करता है। जबकि वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरित है। आईन्स्टीन एक निरा प्रयोगशाला का शोधकर्ता मात्र नहीं था, बहुत बड़ा गणितज्ञ था। इसीलिये उसने विज्ञान को अस्थिर विचार भूमि से हटाकर इसके प्रयोगों के लिये नई क्रांतिकारी दिशा प्रदान की। कुछ समय पहले यह सोचा जाता था कि

पदार्थ अस्तित्वही है। लेकिन यह सिद्ध हो चुका है कि ऊर्जा व पदार्थ एक-दूसरे के आकार में परिवर्तित किये जा सकते हैं। उपनिषदों के दृष्टाओं ने बहुत पहले यह घोषणा की थी कि संपूर्ण भौतिक संसार प्राण का ही प्रकटीकरण है। इसे पिछले अध्याय में ईश्वर से उत्पन्न बताया जा चुका है। जब एक मनुष्य सभी विचारों से मुक्त, शांत चित्त बैठता है तब भी वह अपने आप के प्रति सचेत रहता है। इससे यह प्रकट होता है कि ज्ञान का केन्द्र बाहर न होकर भीतर है। समस्त बाहरी ज्ञान चाहे वह ऐन्द्रिक हो, मानसिक हो, अथवा बौद्धिक हो, इन विशेष दिशाओं में प्रवाहित होने वाली व्यक्ति की चेतना मात्र है। इसे वस्तुगत अस्तित्व की सार्थकता इसी चेतना ने प्रदान की है। आत्म चेतना से ही सभी विचार उत्पन्न होते हैं। यह मूल चेतना बुद्धि बनती है जिसके द्वारा आत्मा से प्रकट होनेवाला ज्ञान प्रकाशित होता है। बुद्धि विकसित होती रहती है। साधारणतः मानवीय ज्ञान अपूर्ण होता है तथा उसके विकास के लिये विशिष्ट शिक्षा आवश्यक मानी जाती है। इसे हम ऐसी वातायन मान सकते हैं, जिससे ईश्वरत्व का आभास हुआ करता है। उचित शिक्षा व बौद्धिक विकास द्वारा हम यद्यपि इसे उद्घाटित कर सकते हैं किंतु इसे काल व समय से परे ले जाना कठिन है। आत्म चेतना के लिये सीमाएं अवरोध उत्पन्न नहीं करतीं।

सभी ज्ञान-वान प्राणियों में उनकी वैयक्तिक चेतना ब्रह्मांड चेतना से उपजती है। मानवीय बुद्धि अपनी अन्तर्निहित सीमाओं के पार नहीं जा पाती व इसीलिये अपूर्ण बनी रहती है। सीमित ज्ञान से त्रुटियाँ आती हैं व सत्य का अनुसंधान नहीं हो पाता। तार्किक बुद्धि से सत्य को पकड़ने के दावे किये जा सकते हैं।

किंतु ऐसा असंभव ही होगा। यही कारण है कि मानवीय बुद्धि सार्वलौकिकता के दैवी सिंहासन पर नहीं बैठ पाती। अंग्रेजी के "डिवाइन्स" शब्द का अर्थ अनुमान करना भी है, जिसका अभिप्राय यह है कि सत्य को ज्ञात करने के लिये उच्च स्तरीय अनुमान आवश्यक हैं। भौतिकशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र, तथा कला, पराभौतिकी एवं दर्शन आदि क्षेत्रों में मानवीय ज्ञान आज इतना बढ़ गया है कि इसकी क्षमता पर आश्चर्य किया जाता है। किंतु वास्तव में यह असीम ज्ञान के सागर की एक बूंद के ही समान है। किसी एक विद्या का आंशिक अथवा पूर्ण ज्ञान, ज्ञान की पूर्णता नहीं है। यदि एक वृक्ष की कुछ शाखाएँ समझ भी ली गयीं तो इससे संपूर्ण वृक्ष का ज्ञान उपलब्ध हो गया है, ऐसा नहीं माना जा सकता है। भौतिक संसार के संबंध में ज्ञान की समस्त खोज पूर्ण नहीं हो सकती।

इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान संपूर्ण व पूर्ण सत्य नहीं हो सकता। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में से प्रत्येक इंद्रिय के बोध की सीमा निर्धारित है। इससे परे जाने की उसकी सामर्थ्य नहीं होती। विचार और अनुमान से प्राप्त ज्ञान की भी यही सीमा है। अनेक वैज्ञानिक संयंत्रों जैसे, दूरवीक्षण व सूक्ष्म अन्वीक्षण यंत्र आदि के द्वारा मनुष्य के इसी सीमित इंद्रिय बोध को विस्तार दिये जाने की चेष्टाएं की गयी हैं। योगियों और सिद्धों द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्तकर इंद्रिय बोध से परे जाने के दावे किये जाते रहे हैं। इस सब का सार यही है कि हमारी जानकारी से कहीं बहुत आगे संभावनाओं के स्तर मौजूद हैं।

अस्तित्व के विभिन्न स्तरों की संपूर्ण प्रामाणिक जानकारी असंभवप्रायः है। यही कारण है कि सीमित इंद्रिय बोध के आधार

पर ज्ञान व सत्य का अनुसंधान हमें सुलभ नहीं होता। इसके लिये अंदर झांकने की जरूरत पड़ती है जिसके लिए मन व बुद्धि का विचार-शून्य होना आवश्यक है। नीरवता के ऐसे क्षणों में ही प्रकाश का अनुद्घाटित आलोक हमारे हृदय व बुद्धि पर प्रकट होता है। प्रतिभा का अंतःपुर जब खुलता है तब पूर्ण ज्ञान से साक्षात्कार होता है। लीक दर लीक पलायन के विपरीत सत्यानुसंधान की हमारी यह आंतरिक यात्रा ऐसा प्रकाशमान सत्य और ज्ञान का सूर्य है, जिसे अज्ञान का अंधकार कभी ढक नहीं सकता। पूर्ण ज्ञान का वास्तविक छोर अतीन्द्रिय घरातल पर ही मिलता है। अव्यक्त अवस्था में आत्मा ज्ञान का भंडार है। इसे संस्कृत में "परा" कहा गया है। बुद्धि के स्तर पर विचार रूप में अवतरित होने पर इसे "पश्यंती" कहा गया है। जब इस ज्ञान को शब्द मिल जाते हैं तब इसे मध्यमा' व इसके वाणी में मुखरित होने पर इसे "वैखरी" कहा जाता है। पश्यंती की अवस्था में प्रातिम ज्ञान उद्घाटित होकर उच्च व दैवीसत्य का साक्षात्कार कराता है। इस अवस्था में वर्ण व भाषा मनोहर हो जाती है। मनुष्य अपने व्यक्तिगत ज्ञान व योग्यता के परे एक उच्चस्तर शक्ति को अपने आप में क्रियाशील महसूस करता है। जब साधक अपनी साधना में कुछ और आगे बढ़ जाता है, तो उसकी प्रेरणा तीव्र व स्पष्टतर हो जाती है व उसे ऐसा लगता है कि उसके अंदर कोई उसे सुझाव देने के लिये मौजूद है। इस प्रकार की सुनी जानेवाली आवाज को अंतरात्मा का स्वर कहा जाता और इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान को प्रातिम ज्ञान कहा गया है।

यह लेखक ऐसे कई लोगों को जानता है, जिन्होंने अंतरात्मा की आवाज को सुना है। महात्मा गांधी इस प्रकार के एक निर्विवादित प्रमाण है, जिन्होंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज व उसके

आदेशों को सही ढंग से समझना जरूरी है। इसी स्थिति में वे विश्वसनीय होते हैं व साधकों की सहायता करते हैं। भौतिकसुखों की प्राप्ति के लिये इनका उपयोग अवांछनीय है। जब सांसारिक प्रयोजनों से प्राप्तिमान ज्ञान का उपयोग किया जाता है तब प्राप्त होनेवाले आदेश अस्पष्ट होते हैं। साधक को यह जान लेना जरूरी है कि वह ऐसे स्वामी के सान्निध्य में काम कर रहा है, जो उसका सबसे बड़ा शुभ-चिंतक और मित्र है।

सभी धर्मावलंबियोंद्वारा यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक स्त्री और पुरुष के हृदय में ईश्वर वास करता है। ऋग्वेद की एक ऋचा में कहा गया है कि जीवात्मा और ईश्वर मां के गर्भ से एक साथ जुड़वा पैदा होते हैं। एक दूसरी ऋचा में इन्हें दो सखा पक्षियों के रूप में देखा गया है, जो एक ही वृक्ष अर्थात् एक ही शरीर में वास करते हैं। एक फल का स्वाद ले रहा है व बंधनग्रस्त है दूसरा केवल देख रहा है व बंधन-मुक्त है। जब पहला इस दैवी सहचर को देखता है तब वह दुखों और बंधनों से मुक्त हो जाता है। इस तथ्य पर भारतीय शास्त्रों से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। दर्शन शास्त्र कहता है कि जीव और ब्रह्म की पृथक्ता का आभास अनात्मक है क्योंकि जीव पर माया का आवरण चढ़ा होने से उसमें अज्ञान आ जाता है। जिस प्रकार समुद्र से उसकी लहर भिन्न नहीं है, वैसे ही जीव भी ईश्वर से अपृथक् है। जीवात्मा इस प्रकार सूक्ष्म व भौतिक देह से अवास्तविक ऐक्य की प्रतीति में भटकी हुई है। इसके फलस्वरूप अहंकार, इच्छा, अनिच्छा, राग, द्वेष व पीडा तथा मृत्यु आदि की भावनाएं जन्म लेती हैं। इनका परिणाम मानसिक व शारीरिक क्रियाओं में होता है जो अंततः सुख और दुःख

के भोग द्वारा जन्म व मृत्यु को शृंखला की रचना करती है, जबकि ईश्वर उसके जुड़वां भाई के रूप में तटस्थ बंधन मुक्त सदा उसके साथ बना हुआ है ।

पतंजलि के योग- दर्शन के अनुसार ईश्वर एक मित्र के स्थान पर स्वामी है । वह बीज रूप में सभी ज्ञेय पदार्थों का आधार है व संपूर्ण का अतिक्रमण करता है इसीलिये जब उसकी आराधना की जाती है, पराज्ञान की उपलब्धि होती है, जोकि केवल प्रतिमा से ही अन्यथा प्राप्त है । बीज में संपूर्ण वृक्ष, फल फूल व जड़ रूपी गर्भ के भ्रूण की तरह मौजूद है जब वह फूटता है तब अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार विकसित होता है । जब ईश्वर को हृदय के भीतर ज्ञान बीज के रूप में मौजूद कहा जाता है तब यह आशय स्पष्ट है कि उसकी आराधना, भक्ति व विश्वास से साधक में पराज्ञान का अभ्युदय होगा । बीज रूप में मौजूद प्रातिम ज्ञान द्वारा भी ईश्वर साक्षात्कार की संभावना प्रकट होती है । “तू मिट्टी है और मिट्टी में ही वापिस जायेगा !” ऐसा आत्मा के संबंध में नहीं कहा गया है । शास्त्र तो कहता है—, “हे अमृत पुत्र, तुम अमर हो व अमरत्व ही तुम्हारा धाम है ।”

सभी प्रकार का ज्ञान चाहे वह सांसारिक हो अथवा आध्यात्मिक जिसे, शिक्षा, प्रेरणा और प्रतिमा आदि किसी भी माध्यम से प्राप्त किया जाता है, अंतरात्मा से ही प्रकट होता है । यह सदा साथ है । व वास्तव में ईश्वर से भिन्न नहीं है व सभी ज्ञान का स्रोत तथा सृष्टि की नियामक सत्ता है । जिस प्रकार सूर्य की किरणें सीधे सूर्य का संस्पर्श कराती हैं वही स्थिति ज्ञान की धारा की भी है । केवल भौतिक ज्ञान ही ज्ञाता को ज्ञान के उद्गम से अलग रखता है । जब प्रतिमा का द्वार खुलता है तब अंतःकरण के

स्वामी की छवि दिखाई पड़ती है व साधक ईश्वर की निकटता पाता है। उस अवस्था में ईश्वर का अस्तित्व एक वास्तविकता बन जाता है। अब तक की कल्पना व अनुमान जो केवल श्रुत थे, उसकी आस्था में परिवर्तित हो जाते हैं। साधक को विश्वास हो जाता है कि उसने ईश्वर को पालिया है। किंतु जब तक भौतिक ज्ञान की आकांक्षाएं मन को बाह्य उद्देश्यों में नियोजित रखती हैं, मनुष्य भटकता ही रहता है। जीवन की इस भटकन को रोका जाना जरूरी है। आत्म-चेतना की ओर लगाया गया ध्यान आत्मज्ञान तक ले जायेगा। यही ईश्वर की प्राप्ति है व यही मानव जीवन का लक्ष्य भी है।

हम देखते हैं कि संसार में औद्योगिक, सामाजिक व प्रतिरक्षात्मक अनेक प्रकार की साधन संपन्नता आई है। यह मानवीय योजनाओं की उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में यह मनुष्य की व्यक्ति सापेक्ष बुद्धि की आयोजना है। समस्त संसार की नियोजना में भी यही बात लागू होनी चाहिये। ईश्वर इच्छा करता है और सृष्टि जन्म लेती है। अतः दृश्यमान संसार, जिस तरह विश्व चेतना का प्रक्षेपण है, वैसे ही व्यक्तिगत चेतना भी उसका एक भाग होने के कारण मृथक् अस्तित्व नहीं रखती।

योगदर्शन के अध्याय ३ के सूत्र ४९ में कहा गया है कि जब एक योगी आत्मा और बुद्धि का भेद जान लेता है व यह समझ जाता है कि आत्मा बुद्धि नहीं है तब उसे सृष्टि ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसा योगी सर्वज्ञाता बन जाता है। इस स्थिति में योगी आत्मकेन्द्रित हो जाता है व उसकी व्यक्तिगत चेतना सभी सीमाओं को पार कर जाती

है व अपनी उद्गम स्रोत से मिल जाती है। यह निर्वाण की अवस्था है। यहां जीवन और मृत्यु की शृंखला टूट जाती है। योगी इस स्थिति में अपनी वास्तविक आत्मा को जान लेता है व ईश्वर से एकत्व प्राप्त करता है। कहा गया है,— “ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति” अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है।

जब तक हम ज्ञान के ज्ञाता पथ पर ही विचार कर रहे थे। अब हम यह भी देखें कि ज्ञेय अंततः क्या है। आकाश की व्यापक चौड़ाई व गहराई जो हमारे ऊपर चमकते हुए सितारों से जानी जाती है, अपने आप में अनेक सौर-मंडलों का केन्द्र है। इनकी दूरी केंवल प्रकाश वर्ष में ही मापी जाती है। एक प्रकाश वर्ष का मतलब उस दूरी से है जो प्रकाश प्रति सेकेण्ड १,८६००० मील की रफ्तार से पूरी करता है। कुछ तारे तो हमसे इतने दूर हैं कि उनका प्रकाश धरती पर पहुंचा ही नहीं है। इस विराट ब्रह्मांड के साथ धरती के सुहावने सागर, पहाड़ व वन अंततः क्या हैं? नाम व रूपों का यह विराट प्रदर्शन विश्व ऊर्जा का ही रचना परिणाम है। धूल का प्रत्येक कण, पत्थर अथवा धातु जो जड़ व निश्चेष्ट है, वास्तव में इसी गतिमान ऊर्जा का प्राकट्य है।

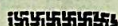
संपूर्ण ब्रह्मांड शक्ति के रचनात्मक व गतिशील आकार का प्रतिनिधित्व करता है। सभी रूप और आकार इसके स्थिर व निश्चेष्ट होते ही विलीन हो जायेंगे।

सृष्टि रचना में नियम शाश्वत रूप से अप्रतिहत है व इनकी व्यवस्था उच्च बौद्धिक धरातल पर हुई है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल ऊर्जा या तो स्वतः अथवा किसी विराट

बुद्धि के नियामक सृष्टि द्वारा पूर्ण है व बुद्धि रहित है। यदि बुद्धि को अपनी अभिव्यक्ति की सामर्थ्ययुक्त भी मान लिया जाये तो कोई अंतर नहीं पड़ेगा। ईश्वर जो सर्व ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान भी है। ऐसा होने से ही एक मनुष्य को यह स्वीकार कर लेने में यह कठिनाई नहीं होती कि परम तार्किक प्रकृति की रचना, सम्पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति हो। एक आस्थावान पुरुष इसे ही ईश्वर के नाम से पुकारता है। यह केवल नाम का ही तो भेद है। दार्शनिक आधार पर भी ऐसे शरीरी ईश्वर की कोई स्थिति नहीं हो जो हमारी तरह हाथ सिर पांव व शरीर वाला है। तथा स्वर्ग के किसी सिंहासन पर बैठा हुआ है। वेदों का ब्रह्म भी सत्चित् व आनंद है।

वैदिक शास्त्रों ने इसीलिए “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” अर्थात् सभी कुछ निश्चय ही ब्रह्म है। ऐसी घोषणा की है। हम देखते हैं कि एक ही ज्ञान, व्यक्ति व पदार्थ आदि उभय रूप में प्रकट होता है। जब एक मनुष्य व्यक्ति अथवा पदार्थ के पथ पर गहन ध्यान, करता है। तब बाह्य दृश्य व उसका ज्ञाता पथ दोनों ही उसकी चेतना के साथ आदिम पूर्णता में खो जाते हैं। यहां पहुंचकर शक्ति के ज्ञान व क्रिया पद भी एक हो जाते हैं।

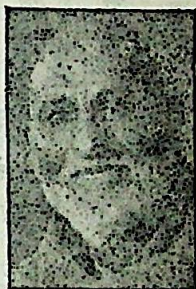
अनुवादक — श्री प्रभु दयाल मिश्र



गुरु वन्दना

— स्वामी श्री शिवोम् तीर्थजी

जगत् जननी भगवती जगदम्बा,
जब सृष्टि स्तरपर किसी साधक में
आत्मोन्मुख जाग्रत एवं क्रियाशील
होती है, तब साधक के चित्त एवं
शरीर में उस साधक की चित्त भूमिका
के अनुरूप विभिन्न प्रकार की लीलायें
करती है, जिन्हें योगिक भाषा में
क्रिया कहा जाता है। साधक का अपना
मानसिक अथवा शारीरिक बल तथा



अभिमान किसी भी प्रकार भगवती की लीलाओं में हेतु
नहीं होता। साधक के चित्त में जिस भी प्रकार संस्कार
संचित होते हैं। भगवती साधक की इच्छा-शक्ति से स्वतंत्र क्रिया
करती हैं। कई साधकों को संगीत, ज्योतिष, आयुर्वेद अथवा
कविता इत्यादि के संस्कार, चित्त में संचित होते हैं। जब भगवती
की लीलायें कविता के आधारपर घटित होने लगती हैं, तब
चित्त में कविता का स्रोत फूट पड़ता है, तथा साधक के अन्दर
पूर्व संचित संस्कारों के आधारपर विभिन्न प्रकार की कविताएँ
दोहे, छन्द आदि प्रकट होने लगते हैं। अपने आश्रम के एक ऐसे
ही सदस्य, गुरुदेव-स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज से दीक्षित, श्री
बालमुकुन्दजी पालीवाल भी है। जिन्हें साधना के आवेश में
क्रियाशक्ति के द्वारा विभिन्न प्रकार के दोहे, श्लोक इत्यादि
प्रस्फुटित हुए, जिनमें ईश वन्दना, गुरुवन्दना, योग, शक्ति, वैराग्य

Digitized by eGangotri Foundation, Varanasi
 एवं उपदेश के अतिरिक्त गीता, कुण्डलिनिया, ब्रह्मसूत्र, अवगुण, एवं संगीत क्षेत्र इत्यादि के विषय सम्मिलित हैं। यहाँ गुरुवन्दना के प्रकरण में दिये कुछ दोहे उद्धृत किये जा रहे हैं, तथा उनके ऊपर अपनी बुद्धि के अनुसार संक्षिप्त टीका लिखने का प्रयत्न किया है।

‘गुरु विद्या गुरु देव है, गुरु है ज्ञान अपार।

गुरु के ही सानिध्य में, भवसागर हो पार ॥’

अर्थात् गुरु विद्या है, भगवान है तथा अपारज्ञान के भ्रमण्डल हैं, तथा उनके सानिध्य में रहने से ही भवसागर पार हो जाता है।

जीव के चित्त पर पड़े माया के आवरण को अविद्या भी कहते हैं। अविद्या में बुद्धि की समझ उलटी हो जाती है तथा कुछ का कुछ दीखने लगता है। शक्ति का वह स्तर, जो माया से परे होता है उसे विद्या कहा जाता है। अपने गुरुमहाराज ने देवास स्थित आश्रम के मन्दिर में स्थापित शिव-लिंग का नामकरण विद्येश्वर महादेव किया था, जिसका अर्थ है विद्या के ईश्वर अर्थात् भगवान शंकर का वह रूप जो शुद्ध विद्या का ईश्वर होता है तथा उसकी आराधना से जो माया से अतीत शक्ति के स्तर को प्राप्त करते हैं। उसी विद्या अर्थात् शक्ति के शुद्ध स्वरूप को यहाँ गुरु कहा गया है। योग दर्शन में भी गुरु को ईश्वर कहकर ईश्वर ही कहा गया है “स पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात्”। अर्थात् उस ईश्वर को ही योगदर्शन में गुरु कहा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि ईश्वर माया से अतीत होना चाहिये, उसका प्रत्येक संकल्प ज्ञानमय होना चाहिये। ईश्वर का स्तर शुद्ध विद्या और अशुद्ध विद्या के बीच का स्तर है, अर्थात् माया से परे स्थित ईश्वर अपनी शक्ति, संयुक्त होकर जगत में माया का फैलाव करता है, एवं जगत के नामरूपात्मक स्वरूप

का विस्तार करता है। इस दोहे के अन्तर्गत् माया से अतीत शुद्धविद्या तथा उसके उपरांत ईश्वर को गुरु कहा गया है।

साधक के चित्त में गुरुशक्ति जब उदय होती है, तो गुरु और शिष्य में ही एक ही शक्ति कार्यरत अनुभव होती है। उस शक्ति का कार्य साधक के चित्त की मलीनता को दूर करना एवं साधक की स्थिति अशुद्धविद्या अर्थात् अविद्या या माया से अतीत, शुद्ध विद्या में स्थापित करना होता है। उसी के लिये साधक अपने चित्त में जाग्रत शक्ति को कार्य करने का अवसर प्रदान करता है। वास्तव में शक्ति सदैव ही शुद्ध है अशुद्धि उसको स्पर्श भी नहीं कर पाती, किन्तु शक्ति पर माया, वासना, संस्कार एवं विकार रूपी आवरण आ जाते हैं। चित्त पर क्लेश आच्छादित हो जाते हैं, तथा जीव नामरूपात्मक जगत में आसक्त हो जाता है, तथा शुद्ध विद्या चित्त में शुद्ध रूप में विद्यमान होते हुए भी अशुद्धवत् दिखाई देती है। शक्ति अशुद्ध प्रतीत होती हुई संस्कार संचय का कार्य करती है, किन्तु शुद्धोन्मुख जाग्रत होने पर अशुद्ध संस्कारों वासनाओं एवं विकारों को चित्त से उतारने का प्रयत्न करती हुई आत्मा की ओर अग्रसर होती है, उसी को यहाँ पर गुरु-तत्त्व, ईश्वर-तत्त्व अथवा शुद्ध विद्या कहा गया है।

प्रस्तुत दोहे में गुरु को अपार ज्ञान-स्वरूप बताया गया है “गुरु है ज्ञान अपार” अर्थात् जगत के जितने भी ज्ञान हैं सब आत्मा की ज्ञान-शक्ति चैतन्य के संयोग के आने के उपरांत प्रकट होती है तथा आत्मा की चैतन्य शक्ति जड चित्त के आधार पर-कार्य बन्द करते ही चित्त में विलीन हो जाती है। अर्थात् ये सब प्रकार के ज्ञान का आधार आत्मा की चैतन्य शक्ति ही है, वही चैतन्य-शक्ति चित्त से तादात्म्य प्राप्त होने पर अविद्या तथा

तादात्म्य टूट जाने पर शुद्ध विद्या होती है। इसी प्रकार चित्त में सभी ज्ञान उसी चैतन्य शक्ति, चित्त के संयोग में आने पर ही होती है, तब जीव जगत में कितना भी ज्ञान संचय करता चला जाये किन्तु चित्त में पड़े मूल चैतन्य का कमी न्हास नहीं होता। एवं चैतन्य-शक्ति के ज्ञान की क्षमता भी कमी समाप्त नहीं होती।

“गुरु के ही सानिध्य से भवसागर हो पार”। वैसे तो जीव सदैव ही गुरुशक्ति, शुद्ध विद्या अथवा चैतन्य के ही सानिध्य में रहता है, तथा क्षणमात्र के लिये भी उससे विलग नहीं होता। शक्ति के विलग होने का अर्थ मृत्यु होता है, किन्तु मृत्यु भी तो स्थूल देह की ही होती है। सूक्ष्म शरीर में तो गुस्तत्व फिर भी संयुक्त ही रहता है। किन्तु जीव गुरु तत्व के सानिध्य को अनुभव नहीं कर पाता, वह गुरु शक्ति अथवा ईश्वर शक्ति को अपने से अभिन्न समझता है, तथा उस शक्ति के द्वारा इन्द्रियों के आवार पर किये गये कर्मों में मिथ्या कर्तृत्वाभिमान जाग्रत कर लेता है। सारा संसार ही मिथ्या अभिमान से ग्रसित है। यदि जीव उस गुरु तत्व को अपने से भिन्न अनुभव करें तथा प्रतिक्षण एवं प्रतिपल उस गुरु तत्व के सानिध्य में व्यतीत करें तो भवसागर से पार हो जायें, क्योंकि गुस्तत्व की यह प्रत्यक्ष अनुभूति तब तक अनुभव में नहीं आ सकती, जब तक आल्हादिनी अथवा कुण्डलिनी शक्ति इन्द्रियों से अलग आत्मामिमुखी जाग्रत नहीं हो जाती, तब तक शक्ति संस्कारों को क्षीण करती जाती है एवं साधक को मातृवते सम्मालती, उपदेश करती, साधना करवाती भवसागर से पार करवा देती है। यथा:-

गुरु विश्वंभर रूप है, गुरु है दीन दयाल।

गुरु गंगा ब्रह्मांड है, और है मायाजाल ॥

Digitized by eGangotri Foundation, Chandigarh
 गुरु विश्वम्भर अर्थात् जगत् का पालन करता है अर्थात् दीनदयाल है, पतित पावनी गंगा तथा ब्रह्माण्ड रूप है इसके अतिरिक्त जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब माया-जाल है।

वास्तव में ईश्वरीय शक्ति यहाँ जिसे गुरु तत्व अथवा गुरु कहा जा रहा है, वह जगत् के पालन कर्ता है, क्योंकि इन्द्रियाँ इसी शक्ति से संयुक्त होकर भी शरीर का अथवा अन्य जीवों का भरण-पोषण करती हैं। जीव चाहे अपने मनसे कितना भी अभिमान करें कि मैं धन कमाता हूँ, व्यापार करता हूँ अथवा घर की देख-भाल करता हूँ, किन्तु ऐसा समझना उसका केवल मात्र अभिमान ही होता है। वह जिस शक्ति से युक्त होने पर ये सब कुछ कर सकने में सक्षम होता है। वह शक्ति जीव की अपनी नहीं होती, वह तो ईश्वरीय शक्ति होती है, तथा वही शक्ति जब शिष्यों के किसी शरीर विशेष के माध्यम से अध्यात्म उत्थान हेतु कार्यरत होती है, तब उसे गुरु कहा जाता है और वही शक्ति विश्वम्भर भी होती है।

गुरु दीनदयाल अर्थात् दीनों पर दया करने वाले होते हैं। साधक जितना दीन भाव से युक्त होकर अभिमान त्याग कर गुरु के पास जाता है, उतना ही गुरु शरीर के अन्दर जाग्रत गुरु-शक्ति अथवा ईश्वरीय शक्ति उस पर दयावान होती है। जगत् को सुख सुविधायें एवं विषयों को प्रदान करना कोई बड़ा विशेष कार्य नहीं है। वास्तव में तो किसी जीव का आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त करना यही सबसे बड़ी दया होती है। शिष्य जितना ही नम्र, दीन होकर गुरु के पास जाता है उतना ही अधिक उसे आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होता है, तब गुरु कृपा कर उस चेतन मन्त्र का दान प्रदान करते हैं, अथवा दृष्टि या संकल्प या स्पर्श से साधक की अन्तर्शक्ति को अन्तर्मुखी जाग्रत कर देते हैं,

तब तो साधक को स्वतः सिद्ध साधन प्राप्त हो जाता है। सबसे बड़ी दया, सबसे बड़ा लाभ एवं सबसे बड़ा चमत्कार यही तो है।

गुरु पतित पावनी गंगा के समान पवित्र होता है, जो भी गुरु-शक्ति रूपी गंगा में स्नान करता है, उसके पाप गंगा जी में धुल जाते हैं। यहाँ पर गुरु कृपासे जाग्रत अन्तरशक्ति को गंगा जी की उपमा दी गई है। तथा साधन करने को, उस गंगा में स्नान करना कहा गया है जितना जितना साधक अधिक से अधिक साधन रूपी स्नान करता जाता है, उतना ही साधक के चित्त में संचित संस्कार शीघ्रता से क्षीण होते लगते हैं, अर्थात् पाप राशि धुलने लगती है। इसीलिये यहाँ पर गुरु शक्ति को गंगा जी से उपमित किया गया है।

बाह्य दृश्यमान जगत् का आधारभूत तत्त्व गुरु ही रहता है, अर्थात् परमात्मा की चैतन्य शक्ति जो कि सर्वत्र विद्यमान है तथा उसी शक्ति में स्पन्दन होने के कारण नाना-रूप तथा नाना नाम धारण करती है, वही शक्ति ब्रह्माण्ड के रूप में विकसित होती है, तथा वही शक्ति गुरु शरीर में कार्य कर गुरु नाम धारण करती है, अतः यहाँ उसी शक्ति को ब्रह्माण्ड रूप भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी दिखाई देता है, अनुभव होता है, मन में जिसका संकल्प उठता है, तथा बुद्धि जिस वारे में विचार करती है वह सब माया जाल है।

सद्गुरु ज्ञान प्रकाश है, अन्तर ज्योति जगाय ।

पूर्व कर्म संचय विना, सद्गुरु मिलते नाय ॥

सद्गुरु जो कि ज्ञानप्रकाश है, और वे अपने साधक की अन्तर ज्योति, अन्तर शक्ति को जाग्रत करते हैं। ऐसे सद्गुरु, पूर्व सद्कर्मों के संचय किये विना प्राप्त नहीं होते ।

बाकी सारा जगत्, चल, अचल, मिथ्या, परिवर्तनीय है। जिस गुरु शरीर में सत् स्वरूप परमात्मा की चैतन्य शक्ति जाग्रत होकर शिष्यों के कल्याणार्थ क्रियाशील हो जाती, उसे सद्गुरु कहा जाता है। जब ऐसे गुरु के चित्त में अपने शिष्य के प्रति कल्याण भाव उदय होता है, तब गुरु की चित्त शक्ति आगे प्रसारित होकर शिष्य की चित्त शक्ति के तादात्म्य में आती है, तथा शिष्य की शक्ति को भी अन्तर्मुखी जाग्रत कर देती है, तब सद्गुरु रूप परमात्म तत्व शिव-तत्त्व अथवा गुरु तत्व जो गुरु की ही भाँति शिष्य के चित्त में मल विक्षेप आवरण को हटाकर सत्स्वरूप परमात्मा का ज्ञान प्रकाशित करता है।

जब शिष्य में चैतन्य शक्ति जाग्रत होती है तो चित्त में विद्यमान संस्कारों, वासनाओं एवं विकारों के आवरणों को भस्म करती, चित्त में ही विद्यमान आत्म-ज्योति को प्रकाशित करती है। जब तक अन्तर में आत्मज्योति प्रकाशित नहीं हो जाती तब तक जीव बाह्य ज्योतियों-अर्थात् सूर्य, चन्द्र, तारे, दीपक, आँख, कान, भूँह, स्पर्श, मन, बुद्धि इत्यादि बाह्य ज्योतियों का अवलम्बन लेता है, जो कि बाह्य जगत् मात्र का ज्ञान करवाने में ही समर्थ होते हैं, तब जीव आत्म-तत्त्व को भूलकर बहिर्जगदभिमुखी स्थित रहता है, किन्तु गुरु के कृपा प्रसाद से ये सब बाह्य ज्योतियों से उदासीन एवं विरत होता जाता है, तथा जैसे-जैसे चित्त के विकार एवं वासनायें जाकर चित्त शुद्ध होता जाता है, वैसे-वैसे अन्तर में आत्म-ज्योति प्रज्वलित होती जाती है।

चली सिम्मते गैव से इक हवा, कि चमन गरूर का जल गया ।
वले शमाए खाना जला के सब, गुले सुरखसां-सी हरी रही ।”

अर्थात् अदृश्य में से एक ऐसा हवा बली कि जिसमें अमिमान का लगाया सारा बगीचा जलकर राख हो गया। घर के दीपक से घर को ही आग लगकर सारा घर भस्म हो गया और शेष केवल आत्म-ज्योति प्रज्वलित रह गई। अपने अन्तर में शक्ति की जाग्रति व अदृश्य वायु का झोंका है, जो चित्त में फँसे हुये अमिमान, काम, क्रोध, लोभ इत्यादि के बगीचे को जलाकर भस्म कर देता है। चित्त-शक्ति, चित्त के विकारों को ही जला डालती है और शेष आत्म-ज्योति प्रज्वलित रह जाती है।

ऐसे गुरु तभी मिलते हैं जब साधक की योग्यता उसके अनुकूल विकसित हो जाती है। ये योग्यता चित्त में शुभ संस्कारों के संचित होने पर निर्मित होती है। जब तक साधक जगत् की वासना और अविवेक रूपी संस्कारों को संचय करता रहता है, तब तक चित्त में जगत् की वासना बलवती होती रहती है, एवं वृत्ति बहिर्जंगदामिमुखी बनी रहती है। किन्तु जैसे-जैसे जीव कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान करते हुये, चित्त में परमात्मा रूपी अन्तर ज्योति के प्रति प्रेम तथा श्रद्धा के संस्कार संचित करता है, वैसे-वैसे उसके चित्त में भगवत् प्राप्ति की ओर वृत्ति उत्पन्न होने लगती है, तथा गुरु प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील होता है, तब किसी समय भगवान उस पर कृपा करते ही है, तथा गुरु रूप में उसके समक्ष प्रकट हो जाते हैं।

मूल तत्व वे एक हैं, शाखा भेद अनेक।

सद्गुरु आशीर्वाद से, मिट जावे सब भेक ॥

अर्थात् मूल तत्त्व ईश्वर एक ही है, किन्तु उसका दिग्दर्शन करने के लिये सिद्धान्त, साधन, सम्प्रदाय और शाखाएँ विकसित हो गई हैं। गुरु आशीर्वाद से भेद - बुद्धि मिट जाती है, तथा सभी सिद्धान्तों और साधनों में एकत्व स्थापित हो जाता है।

सम्पूर्ण संसार का फैलाव परमात्म तत्त्व से ही होता है, जिसमें नाना प्रकार के नाम-रूप धारण कर विभिन्न वस्तुयें, पदार्थ, प्राणी, परिस्थितियाँ दृश्य इत्यादि बनते जाते हैं। कई प्रकार के सिद्धान्त दृष्टि-कोण, साधन एवं नियम विकसित हो जाते हैं। भाँति-भाँति के सम्प्रदाय एवं शाखायें निर्मित हो जाती हैं, किन्तु सबके मूल में एक परमात्म-तत्त्व ही होता है, जिसे विस्मृत कर मनुष्य शाखा-प्रशाखाओं में उलझ जाता है, सिद्धान्तों के वाद-विवादों में पड़ जाता है, और अपना एक अलग ही दृष्टि-कोण विकसित कर देता है, जिसमें तुलनात्मक भाव अधिक होता है, किन्तु जब सद्गुरु की कृपा है, अर्थात् ईश्वरीय शक्ति अन्तर्मुख जाग्रत होकर क्रियाशील होती है तो जगत् में विभिन्नता के कारण अन्तः संस्कार क्षीण होने लगते हैं, जैसे-जैसे साधक की आध्यात्मिक उन्नति होती जाती है, वैसे-वैसे उसमें तुलनात्मक भावना के स्थान पर समन्वयात्मक दृष्टि-कोण विकास पाने लगता है। तब साधक ये अनुभव करता है कि विभिन्न प्रकार के अलग-अलग मार्ग हैं। जगत् की विभिन्न वस्तुयें, पदार्थ एवं प्राणी एक ही चेतन शक्ति के स्पन्दन के फलस्वरूप ही अस्तित्व में आते हैं। तब मनुष्य को सभी दृश्यों, प्रपञ्चों, सिद्धान्तों, मार्गों एवं शाखाओं में एक ही ईश्वर-तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। ये सब गुरु कृपा के फलस्वरूप ही सम्भव हो पाता है।

साधक साधन करि थका, मुद्रा ध्यान लगाय ।

गुरु का ही आशिष हैं, मन थिर होता जाय ; ॥

अर्थात् साधक विभिन्न तरीके से ध्यान-साधन करते करते थक जाता है, तथा कई प्रकार वैसे मुद्रायें, ध्यान, आसन आदि भी करते रहने पर भी चित्त शांत स्थिर नहीं हो पाता, लेकिन गुरु की आंशीष मिलते ही चित्त स्थिर होने लग जाता है ।

साधक जब साधना आरम्भ करता है तो उसे अपनी साधना पर अभिमान होता है । जप-तप, पूजा-पाठ, श्रवण-मनन, पठन-पाठन, आसन मुद्रायें, प्राणायाम इत्यादि विभिन्न प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करता है, किन्तु उसे किसी भी प्रकार की उपलब्धि नहीं हो पाती, जितना भी मन के साथ अधिक युद्ध करने का तथा मन को परास्त करने का प्रयत्न किया जाता है, उतना ही मन अधिक चंचल होकर उपद्रव करता है । मन पर विजय प्राप्त करना अपने पुरुषार्थ से अत्यंत कठिन है, क्योंकि जितना अधिक प्रयत्न किया जाता है, उतनाही प्रयत्न कर्तापिन के संस्कार अधिक संचय होते हैं, जिससे चित्त अधिक चंचल हो उठता है, किन्तु जब गुरु कृपा प्राप्त होती है, तब ईश्वरीय शक्ति चित्त में जाग्रत होकर क्रियाशील हो जाती है, तब साधक अपने से भिन्न क्रिया-शक्ति की क्रियाओं की अनुभूति करता है, तब साधक का प्रयत्न समाप्त हो जाता है, तथा चित्त शुद्ध करने का उत्तरदायित्व शक्ति पर चला जाता है, तब संस्कार संचय होने के स्थान पर क्षीण होना आरंभ हो जाते हैं, और चित्त की चंचलता के कारण संस्कारों के क्षीण होने पर चित्त में स्वाभाविक एकाग्रता की स्थिति उत्पन्न होती जाती है ।



गुरुग्रन्थ साहिब

— ले. स्वामी श्री शिवोम् तीर्थजी

सिरीरागु महला ४

(पहलै पहरै रैण के वणजारिया मित्रा हरि पाइआ उदर मंझारि ।
हरि घिआवै हरि उचरै वणजारिआ मित्रा हरि हरि नामु समाारि ।
हरि हरि नामु जपे आरावे विचि अगनी हरि जपि जीविआ ।
वाहरी जनमु भइआ मुखि लागा सरसे पिता मात श्रीविआ ।
जिसकी वसतु तिसु चेतहु प्राणी करि हिरदै गुरुमुखि बीचारि ।
कहु नानक प्राणी पहले पहरे हरि जपीए किरपा वारि ॥१॥)

हे वंजारा मित्र ! जीवन की आयु रूपी रात्री के पहले प्रहर में जीव को, परमात्मा, माता के गर्भ में प्रतिष्ठित करता है गर्भ में जीव परमात्मा का ध्यान, नाम-उच्चारण एवं स्मरण करता है । वह बार बार हरि नाम की स्तुति एवं आराधना करता गर्भ की अग्नि में वह परमात्मा के नाम स्मरण एवं ध्यान के कारण ही जीवित रहता है । जन्म होने पर जीव माता पिता का प्रिय पात्र हो जाता है । माता पिता संतान का सुख देख कर, उस की क्रियाएं देख प्रसन्न मग्न हो जाते हैं । किन्तु हे प्राणी, गुरु के उपदेश के अनुसार तू अपने अन्तःकरण में विचार कर के तो देख । यह बाल जिसने दिया है, बालक स्थान पर तू बालक देने वाले का ध्यान कर । गुरु जी कहते हैं कि जीवन के पहले प्रहर में कृपा सागर भगवान के पवित्र नाम का स्मरण करना चाहिए ।

भाव यह है कि जीवन का प्रथम माता के गर्भ में स्थित होने पर आरंभ होता है । गर्भ की पीडा से दुःखी होकर जीव पर-

मात्मा का ध्यान एवं नाम स्मरण करता है। गर्भ की अग्नि में परमात्मा की कृपा के फलस्वरूप ही जीवित रहता तथा जन्म ग्रहण करता है। किन्तु उसके उपरान्त माता पिता का उस बालक के प्रति मोह जागृत हो जाता है। माता पिता बालक को तरह तरह से खेलाते, खिलाते तथा रिझाते हैं। किन्तु माता पिता को मोह के वशीभूत होने के स्थान पर यह विचार करना चाहिये कि जिस परमात्मा की कृपा से बालक प्राप्त हुआ है उसका गुणगान करना चाहिए। गुरुजी कहते हैं कि यदि बालक भी बुद्धि के थोड़ा विकसित होने पर इस रहस्य को समझले तो माता-पिता के प्रति आसक्त होने के स्थान पर, तथा उन्हें अपना न मानकर भगवान का ध्यान करे तो इसीमें उसका कल्याण है। भाव यह कि पूर्व ऋणानुबंध के कारण ही भगवान माता पिता तथा बालक का संबंध स्थापित करते हैं। एक दूसरे के प्रति आसक्त हुए बिना यदि दोनों पक्ष दत्त चित्त हो कर सद्कर्म करते हुए भगवान के भजन में तल्लीन हो जाय तो दोनों को मोक्ष प्राप्त हो जाए।

[दूजै पहरै रैणि कै वणजारिआ मित्रा मनु लगा दूजै भाइ ।
मेरा मेरा करि पालिए वणजारिआ मित्रा लें मातपिता गलि लाइ ।
लावै मात पिता सदांगल सेती मनि जाणै खटि खवाए ।
जो देवै तिसै न जाणै मूडां दिते नो लपटाए ।
कोई गुरमुखि होवै सु करै बीचाऊ हरि धिआवै मनि लिव लाइ ।
कहु नानक दूजै पहरै प्राणी तिसु कालु न कबहुं खाइ ॥२॥]

हे वनजारे मित्र जीवन की अवस्थारूपी रात्रि के द्वितीय चरण में जीव का चित्त दूसरे भाव अर्थात् अपने से अन्य इस जगत् के प्रति आकर्षित होकर तल्लीन हो जाता है। माता-पिता बड़े लाड प्यार से उसे गले से लगा लेते हैं। माता-पिता भी स्वार्थ

के वशीभूत होकर ही बालक को गले लगाकर मन में विचार करते हैं कि वह बड़ा होकर, कमा कर उन्हें खिलाएगा और उनकी सेवा करेगा। मनुष्य भी कितना अज्ञानी है कि बालक प्रदान करने वाले उस परमात्मा को जानने पहचानने का तो कोई प्रयत्न नहीं करता वरन् उसकी दी हुई मिथ्या, अनित्य और नश्वर वस्तुओं से लिपटता फिरता है। यदि किसी को सौभाग्यवश पूर्ण और सच्चा सद्गुरु प्राप्त हो जाए तथा वह उसकी विवेक की जागृति करे तो वह मन लगाकर, एकाग्रचित्त होकर परमात्मा का ध्यान एवं नाम-स्मरण कर सकता है। गुरुजी कहते हैं कि ऐसे विवेक युक्त प्राणी को काल यातनाएँ नहीं दे सकता।

भाव यह है कि दूसरे चरण में प्राणी परमात्मा का ध्यान छोड़कर द्वैत भाव में उलझ जाता है। यह जगत् उसे दिखाई देता है। और जगत् के विषयों के प्रति उसका राग, द्वेष हो जाता है। तथा उन विषयों को प्राप्त करने अथवा उन्हें अपने मार्ग से हटाने में लीन होकर सुख दुःख के संस्कारसंचय करता है। दूसरी ओर उसके माता पिता भी उससे आसक्त होकर उसका पालन पोषण एवं लाड प्यार करते हैं। वे यह नहीं समझते कि एक न एक दिन हमें इस बालक से वियुक्त होना ही है। जगत् के अन्य विषयों की भांति ही बालक का तथा अपना, दोनों के शरीर नश्वर एवं मिथ्या ही है। जिस प्रभु ने यह शरीर और यह बालक प्रदान किए हैं उसको तो वे भूल जाते हैं और मिथ्या तथा नश्वर वस्तुओं से लिपटकर लाड-प्यार करते हैं। और इस तरह आसक्ति युक्त होकर, सुखी दुःखी होकर संस्कार संचय करते हैं। गुरुजी कहते हैं कि यदि सौभाग्यवश प्राणी को सद्गुरु प्राप्त हो जाए और उसके चित्त में नित्यानित्य विवेक, अनित्य के प्रति वैराग्य और नित्य के प्रति अनुराग जागृत कर दे तो मनुष्य

आसक्ति तथा कर्तृत्वानुमान का मार्ग छोड़कर, सद्गुरु का आचरण एवं भगवान का नाम - स्मरण कर सकता है। जिस मनुष्य के अन्दर ऐसा विवेक जागृत हो गया है तथा विवेकानुसार आचरण एवं प्रभु का ध्यान करता है कालान्तर में उसका चित्त शुद्ध होकर जन्म मरण के चक्रसे रहित हो जाता है। एवं काल-प्रतारणा से बच जाता है।

[तीजै पहरै रैणि कै वणजारिआ मित्रा मनु लगा आलि जंजालि ।
 धनुचित्तबै धनु संचवै वणजारिआ मित्रा हरिनामा हरि न समालि ।
 हरिनामा हरि हरि कदे न संमालै जि होवै अंति सखाई ।
 इहु धनु संपै माइआ झूठी अंति छोडि चलिआ पछुताई ।
 जिस नो किरपा करे गुरु मेले सो हरि हरि नामु संमालि ।
 कहु नानक तीजै पहरै प्राणी से जाइ मिले हरि नालि ॥ ३ ॥]

हे वनजारा रूपी जीव-मित्र, जीवन के तीसरे चरण में जीव का चित्त अपने कर्मों के प्रति आसक्त हो जाता है। युवावस्था आने पर वह धन संचय करने, भोगने तथा उसका रक्षण करने में सोचता एवं तदनुसार आचरण करता है। तथा भगवान के ध्यान एवं नाम-स्मरण के प्रति उदासीन रहता है। परमात्मा के आनन्द-दायी स्वरूप का ध्यान, स्मरण नहीं करता जो कि इस जीवन का अंत होने पर उसका सहायक होता है। यह वैभव, सुख-सुविधा, धन संपत्ति आदि मिथ्या भ्रम के कारण बंधन है। जिसे मृत्यु प्राप्त होने पर सब कुछ त्याग कर खाली हाथ इस संसार से विदा होता पड़ेगा। जिस पर भगवान की दया प्राप्त होती है उसे सद्गुरु प्राप्त होते हैं और परिणामतः वह प्रभु के ध्यान एवं नाम-स्मरण में लीन हो जाता है। गुरुजी कहते हैं कि जो जीव नामस्मरण एवं भगवान का ध्यान करता है वह परमात्मा में विलीन हो जाता है।

भाव यह है कि तीसरा चरण यहाँ पर यौवन और प्रौढ़ अवस्था को कहा गया है। इस अवस्था में जीव परमात्मा का ध्यान भूलकर घन संपत्ति जुटाने में एवं यौवन का भोग भोगने में व्यस्त हो जाता है। गुरुजी कहते हैं कि यदि इस अवस्था में भी यदि मनुष्य को सौभाग्य वश सद्गुरु प्राप्त हो जाए और गुरु के उपदेशानुसार आचरण करे तो वह परमात्मा में लीन हो सकता है। अर्थात् परमात्मा और जीव का अभेद स्थापित हो सकता है।

[चउथै पहरै रैणि कै वणजारिआ मित्रा हरि चलण बेला आदी ।
करि सेवहु पूरा सतिगुरु वणजारिआ मित्रा सथ चली रैणि बिहादी ।
हरि सेवहु खिनु खिनु ढिल मूलि न करिहु जितु असधिक जुगुजुग होवहु ।
हरि सेती सद माणहु रलीआ जनम मरण दुख खोवहु ।
गुर सतिगुर सुआमी मेदु न जाणहु जित मिलि हरि भगति सुखांदी ।
कहु नानक प्राणी चउथै पहरै सफलओ रैणि भगता दी । ॥४॥
१॥३॥]

हे बनजारा मित्र! आयुरूपी रात्रि के चतुर्थ प्रहर अर्थात् बुढ़ापे के कारण भगवानने तुझे प्रस्थान-बेला में ला दिया है—मृत्यु निकट है। संपूर्ण रात्रि योंही बीत गई अर्थात् आयु-भर तूने कमी पूर्ण सद्गुरु की सेवा नहीं की—न तो गुरु का उपदेश ग्रहण किया और न ही नाम स्मरण द्वारा परमात्मा का कमी चिंतन किया अतः कम से कम अब तो सद्गुरु की बात मान और प्रभु की सेवा कर अब कुछ क्षण तो तेरे जीवन के शेष हैं, (क्योंकि तेरी जीवन यात्रा का अंतिम चरण है और भगवान ने तेरे बिदाई की बेला मृत्यु को भेजकर समीप ही ला दी है) अतः प्रति युग में तेरा जीवन काल अस्थिर न रहे अर्थात् बार बार जन्म और मृत्यु इस

काल-चक्र से छूटने हेतु जरा भी विलंब न कर। भगवान के नाम-स्मरण और चिंतन में रत हो जा और इस प्रकार जरा मरण की बारबार आवृत्ति से मुक्त हो जा। ऐ प्राणी! भगवानके रंग में जब तू रंग जाएगा तो तू अपने सब दुःख, उत्पीड़न भूल जाएगा। गुरुनानक देव जी कहते हैं कि गुरु में और परमात्मा में भेद न रखते हुए इस अमेद दृष्टि के कारण ही भगवान की भक्ति तेरे लिए सुख-दायी होगी—क्योंकि सद्गुरु के अंदर ही ईश्वर की शक्ति समायी हुई है अतः हे प्राणी! तू अपने जीवन के चतुर्थ चरण अर्थात् वृद्धावस्था में ही सम्मिलित जा और संपूर्ण जीवन सफल करले।

WITH BEST COMPLIMENTS FROM

●

Chemicals & Plastics Sales Corporation

●

2nd Floor, Hornby Building,
172/74, D. N. Road, Fort
BOMBAY-400 001

प्रश्नोत्तर

—स्वामी श्री शिवोम् तीर्थजी

प्रश्न :— महायोग विज्ञान में एक स्थान पर ऐसा लिखा है कि निष्कृष्टतम साधक १२ वर्ष में, निष्कृष्ट साधक ९ वर्ष में मध्यम साधक ६ वर्ष में एवं उत्तम साधक ३ वर्ष में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। किन्तु हम ऐसा देखते हैं कि साधक ४०-४० वर्ष हो जाते हैं, वे साधना भी नित्यप्रति करते हैं, क्रियायें भी होती हैं, उन्हें आनंद भी आता है, किन्तु अभी तक वे साधक वहीं के वहीं हैं। तो महायोग विज्ञान के लिखे अनुसार परिस्थिति कुछ दूसरी होनी चाहिये ? कृपया इस बातपर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें।

उत्तर :— उत्तम, मध्यम, निष्कृष्ट एवं निष्कृष्टतम ये जो चार साधकों की श्रेणियाँ कही गई हैं, वास्तव में सामान्य साधक इन श्रेणियों में से किसी श्रेणी में नहीं आता। अत्यन्त वैराग्यवान् साधक विनम्र एवं अभिमान रहित अपनी साधना में तत्पर रहने वाला एवं भगवान् के लिये कर्म करनेवाला साधक; उत्तम साधक गिना जाता है। इन सब बातों में वैराग्यकी मात्रा किसी में कम होती है, किसी में साधना के प्रतिउत्साह में कमी होती है किसी में क्रोध, लोभ, मोह होता है, वे मोही क्रोधी होते हैं,

कोई साधक भगवान के लिये कर्म न करके, अपने लिये कर्म करता है। इसके आधार पर साधकों की उपरोक्त चार श्रेणियाँ बनाई गई हैं। जो सर्वोत्तम, सर्वगुण सम्पन्न साधक होता है उसे उत्तम साधक कहा जाता है। जिस साधक पर शक्ति तत्काल कार्य करती है, उस साधक की स्थिति एकदम ऊपर उठना आरम्भ कर देती है। वह साधक भी मन, वाणी व कर्म से उस जाग्रत शक्ति के प्रति समर्पित हो जाता है। उसकी क्रियाओं में किसी भी प्रकार का मानसिक अथवा शारीरिक हस्तक्षेप नहीं करता ऐसा साधक उत्तम कोटि का साधक होता है।

जो साधक जगत में सुखदुःख को समान मानकर जगत में विचरण करता है, मान-अपमान अथवा अनकूलता-प्रतिकूलता से अपने को प्रभावित नहीं करता एवं समर्पण भाव से युक्त होकर अपनी साधना में लीन होता है, वह साधक उत्तम कोटी का साधक माना जाता है। जिस साधक का प्रत्येक कर्म भगवती की क्रीडा स्वरूप प्रतीत होता है, जिस प्रकार अपने अन्तर में साधक कर्तृत्वाभिमान का भाव लुप्त कर द्रष्टा भाव में अवस्थित हो जाता है। इसी प्रकार इस जगत में सर्व कर्म भगवती महा-माया शक्ति के द्वारा ही सम्पादित होते हुए अनुभव करता है, और द्रष्टाभाव से देखता है, वह साधक उत्तम कोटी का साधक है।

इस प्रकार का उत्तम साधक यदि शक्तिपात की दीक्षा ग्रहण करता है, उसकी शक्ति तीव्र गति से चित्त के आधार पर कार्य शुरू कर देती है। ऐसा साधक ३ वर्ष में मोक्ष पा जाता है। अब इसमें उत्तम साधक से नीचे उतरिये, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। किसी में कोई कमी, किसी में कोई कमी, जिसके

आधा पर साधकों को जगत् श्रेणियों में बाँटा गया है। उनकी मोक्ष प्राप्ति का समय भी क्रमशः ३: ६: ९: : १२ ऐसा निश्चित किया गया है। अब हम अपने आसपास के साधकों पर द्रष्टिपात करते हैं, तो प्रायः साधक इन चारों श्रेणियों में नहीं आते जिसका विश्लेषण निम्नलिखित तत्वों के आधार पर किया जाता है।

(१) साधकों में प्रायः जगत के सुखों-दुखों का, लाभ हानि, अनुकूलता-प्रतिकूलता से अपने चित्त को प्रभावित करते रहने की प्रवृत्ति होती है, जिस कारण उनका चित्त विक्षिप्त, विचलित, अप्रसन्न व प्रभावित होकर उन उपस्थित होने वाले सुख दुःखादि के संस्कार संचय करता चला जाता है। जितना हमारा चित्त जगत के सुखदुःख आदि से प्रभावित होगा, उतने ही हमारे चित्त में संस्कार संचय अधिक होंगे। जब हमारे चित्त में संस्कार संचय का क्रम चल रहा है, तो हमारा चित्त कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह है कि साधकों के चित्त में वैराग्य की कमी होती है।

(२) प्रायः साधक कर्म के प्रति आसक्ति का त्याग नहीं करता, वह अपने कर्म का फल मन के अनुकूल प्राप्त करने की जिज्ञासा करते हैं। अनुकूल फल मिलने पर राग, प्रतिकूल फल मिलने पर द्वेष के संस्कार साधक के चित्त में संचित हो जाते हैं। इस प्रकार जब तक साधक के चित्त में कर्मों के संस्कार संचय होते रहते हैं, तब तक चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। प्रायः साधक जगत में अनुकूल परिस्थितियों में जब उसकी साधना में किसी ओर से विक्षेप उत्पन्न होता है। तो उसका चित्त विक्षिप्त हो जाता है। अर्थात् जगत् में अनुकूलता प्रतिकूलता का भाव बना रहता है। जगत के प्रायः सभी मनुष्य अनुकूलता में रहना चाहते

हैं। इस प्रकार जब तक संस्कार संचय होता बन्द नहीं होते, तब तक साधक का चित्त कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता।

(३) प्रायः साधक साधना करते करते क्रिया शक्ति की साधना से च्युत होकर अभ्यास के साधन के स्तर पर नीचे उतर आते हैं। समर्पण के साधन में अपनी ओर से कुछ करना शेष नहीं रहता। जिस भी प्रकार शक्ति साधक के चित्त व शरीर के आधार पर क्रिया करवाती चली जाती है, वैसे ही शक्ति को क्रिया करने का अवसर प्रदान करना साधक का कर्तव्य होता है। किन्तु प्रायः साधक यथार्थाध्य अपने चित्त की एकाग्रता सम्पादित होते देखना चाहता है। यह इस प्रकार का मन से संकल्प करने लगता है कि अमुक क्रिया मुझे नहीं हुई, अमुक क्रिया मुझे अधिक समय के लिये हो। जब साधक की क्रिया साधक के मानसिक संकल्प के अधीन हो जाती है तब वह क्रिया; क्रिया न रहकर कर्म का स्वरूप धारण कर लेती है। वह सब साधना का फल जल्दी प्राप्त करने के लिये करता है। हम यह कईवार कह आए हैं कि साधना और साधन में अन्तर है। कर्म और क्रिया में अन्तर है। साधना में कर्तृत्वाभिमान बना रहता है, जब कि साधन स्वयंसिद्ध होता है। इसी प्रकार कर्म में कर्तृत्वाभिमान होता है। किन्तु क्रिया स्वतः शक्ति के द्वारा घटित होती है जिसे साधक द्रष्टा भाव से देखता रहता है। इसके विपरित जब क्रिया मानसिक संकल्प के अधीन हो जाती है तो कर्तापन का भाव उदय हो जाता है। चूँकि क्रिया मन से स्वतंत्र होती है, मन के अधीन नहीं होती। कर्म मनके अधीन होता है। क्रिया का संस्कार संचय नहीं होता जबकि कर्म का संस्कार संचय होता है। इसलिये क्रिया शक्ति की क्रियाओं को

कर्म नहीं कहा जा सकता। जगत में मनुष्य जो कुछ भी करता है, आसक्तियुक्त, मोहयुक्त, कर्तृत्वामिमान युक्त करता है, उनके संस्कार संचय होते हैं। जब हम क्रियाओं में अपना मानसिक हस्तक्षेप शुरू कर देते हैं, होने को तो वह क्रिया कर्म के स्तर पर उतर आती है, तथा उसका संस्कार क्षीण के बदले, संचय होने लगता है। साधक आध्यात्मिक द्रष्टि से उच्च अवस्था के स्थान पर निम्नतम अवस्था की ओर चला जाता है।

(४) साधना की उन्नति में निरंतरता भी एक बड़ा कारण है। साधना वही है, जो निरंतर होती रहे। कभी साधन किया, कभी नहीं किया, ऐसा साधक साधक की कोटी में गिनने योग्य कदापि नहीं होता। इसके अतिरिक्त और कई छोटी छोटी बातें ऐसी हैं जिनकी ओर यदि हम ध्यान दें तो, इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्रायः साधक साधक, की कोटी में आता ही नहीं। केवल दीक्षा लेने से कोई साधक नहीं हो जाता। दीक्षा के पश्चात्, गुरु के प्रति कितना समर्पण है, अपना जीवन कितना सात्विक है, प्रभु के प्रति सामर्पण कहां तक है, विषयों के प्रति अनासक्ति का भाव कितना है, चित्त में भय की मात्रा कितनी है, बुद्धि में विवेक की स्थिति क्या है, तथा साधना के प्रति साधक के मन में कितना उत्साह एवं धैर्य है। यदि हम इन बातों के आधार पर किसी साधक विशेष की स्थिति का अनुमान लगाने लें तो, तो हम ऐसा पाएंगे कि प्रायः साधक साधक की कोटी में आता ही नहीं। यदि दीक्षा के उपरांत भी साधक का मन जगत के विषयों में पूर्ववत् रमा रहे, काम-क्रोध-लोभ आदि विकार चित्त में पूर्ववत् बने रहें, अपने चित्त को इन दुर्गुणों एवं दोषों से साधक के चित्त में किसी प्रकार की

धृणा का भाव पैदा न हो, तो वे साधक, साधक की कोटि में आने योग्य नहीं। इन बातों पर जब हम विचार करते हैं तो प्रायः साधक जगत के अन्दर ही विचरण करनेवाले कर्मों के प्रति आसक्त, विवेक से हीन, कतृत्वाभिमान से युक्त, साधना के प्रति उदासीन इत्यादि वृत्तिवाले देखे जाते हैं। अतः ऐसे साधकों की अपेक्षित उन्नति भी नहीं होती। जिस साधक में गम्भीरता ईमानदारी, सच्ची लगन, समर्पण, साधना के प्रति उत्साह, विषयों के प्रति अनासक्ति अनाकर्षण एवं कर्मों के प्रति निष्कामता का भाव नहीं होता, वे साधक, साधक की कोटि में कदापि नहीं आ सकते। जो साधक की कोटि में आते हैं, उत्तम ३ वर्ष में, मध्यम ६ वर्ष में, निकृष्ट ९ वर्ष में एवं निकृष्टतम १२ वर्ष में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु सारांश यह है कि प्रायः साधक तो अपने आप को निकृष्टतम साधक भी नहीं कह सकते।

इस पत्रिकाके सदस्य बनकर, बनाकर आप गुरु महाराजकी सेवा करते हैं।

इसमें विज्ञापन देकर और दूसरों से विज्ञापन लाकर आप सेवा कर सकते हैं।

समयावधिमें इस पत्रिकाका शुल्क भेजना, अपनी परंपरा की एक प्रकारकी सेवा और साधना ही है।

पत्रावली

हरि : ॐ

देवास १४।५।८३

श्री.....

शुभ आशीर्वाद,

आपका पत्र प्राप्त हुआ, जानकारी ज्ञात हुई। आपने लिखा है कि आप गायत्री मंत्र की किसी समस्या के कारण किसी तथाकथित गायत्री विशेषज्ञ के सम्पर्क में आये, जिसने आपको वादमें परेशान किया वह घृणित पशवाचारी तांत्रिक था। आपके लिये उसने समस्याएँ खड़ी कीं, फिर पूना के श्री. गुलवणी महाराज द्वारा प्रदत्त मंत्र जप से आपको दत्तात्रय, श्री. दुर्गामाता एवं श्री. गुलवणी महाराज इत्यादि के दर्शन होते रहे और आपकी समस्याएँ हल हो गईं। यही पूछना चाहते हैं कि श्री. गुलवणी महाराज एवं दुर्गामाता ये दो शक्ति हमारी सहायता करती है क्या?

इसके उत्तर में आपको हम यह तथ्य समझाना चाहते हैं कि सारे जगत में व्यापक एवं विद्यमान चैतन्यशक्ति एक ही है जिसमें स्पन्दन अथवा आन्दोलन होने के कारण वह एक ही शक्ति नानारूप धारण कर विभिन्न नामग्रहण करती है। वही शक्ति जगत के विभिन्न कार्य भी करती है। उसी शक्ति से युक्त होकर जीव की इन्द्रियां कार्यशील होती हैं। हाथों से युक्त होकर वही शक्ति पकड़ती छोड़ती, पावों से युक्त होने पर चलती, कानों से युक्त होने पर सुनती, मुख से युक्त होने पर खाती अथवा बोलती एवं नेत्रों से युक्त होने पर देखती है। वह एक ही शक्ति मन से

युक्त होने पर सकल्य-विकल्य करती एवं बुद्धि से युक्त होने पर विचार करती है। अर्थात् जगत् में कोई भी कार्य शक्ति से युक्त हुये बिना सम्भव नहीं। हाथ, पांव, नाक, कान, आंख इत्यादि बाह्य इंद्रियां तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, संस्कार वासनायें एवं बुद्धि आदि आन्तरिक क्रियायें, उस शक्ति से युक्त होने पर ही कार्यशील होती है। अन्यथा ये स्थूल इन्द्रियां तो मृतक में भी होती हैं किन्तु वे कुछ कर नहीं पातीं।

जिस प्रकार विजली से हम प्रकाश ग्रहण करते हैं, पंखे के भाध्यम से वायु लेते हैं एवं मोटर के द्वारा पानी ऊपर चढाते हैं। उसी प्रकार उसी विजली से किसी मनुष्य विशेष को झटके देकर मार भी सकती है। विजली एक ही है। उसकी क्रिया शुभ अथवा अशुभ होती है वही एकही शक्ति जगदामिमुखी जगत के प्रति आसक्त एवं आकर्षित करती हुई, हमारे चित्त के ऊपर अविद्याका आवरण डालती हुई हमें संसार बन्धन में बांधती है, तथा वही एक शक्ति प्रति प्रसव क्रम से, आत्माभिमुखी जाग्रत होकर कार्य करती हुई चित्त के संस्कारों को क्षीण करती है। एवं साधक को बन्धन मुक्त करती है। शक्ति एक ही है। उसकी क्रियायें विभिन्न प्रकार की रहती हैं। संसार में बांधने का कार्य करने पर, वही शक्ति पाशविक शक्ति कहलाती, व बन्धन मुक्त करने पर वही शक्ति देवात्मशक्ति, ईश्वरीय शक्ति, गुस्तत्व आदि नामों से जानी जाती है।

फिर वही एक शक्ति साधना में उदय होने पर जब चित्त के अन्दर संचित संस्कारों के आधार पर कार्य करती है तो जैसा संस्कार उभर कर सामने आता है। उसी के अनुरूप क्रिया करती है। एकाग्रता के संस्कार होने पर चित्त एकाग्र हो जाता है।

संगीत के संस्कार उदय होने पर साधक में कवित्वशक्ति जाग्रत हो जाती है। इत्यादि-इत्यादि! चित्त में रामकृष्ण, शंकर, क्राइस्ट, मोहम्मद इत्यादि के संस्कार उदय होने पर वही-वही हमारे चित्त में प्रत्यक्ष हो जाते हैं। ये सब खेल संस्कारों के आधार पर शक्तिद्वारा ही सम्पादित होते हैं। हम प्रसन्न होते हैं कि, हमें दत्तात्रय अथवा दुर्गामाता अथवा श्री गुलवणी महाराज के दर्शन हुये, हम इनके अलग अलग अनुभव करते हैं, किन्तु ये सब एक ही शक्ति की क्रियायें होकर कभी वह शक्ति या गुस्तत्व रामकृष्ण, नानक, क्राइस्ट, इत्यादि के रूप में हमें चित्त में दृष्टि-गोचर होता है, और कभी गुलवणी महाराज या अन्य कोई मन्त्रात्मा के रूप में हमें दिखाई देती है। ये सब शक्ति की क्रियायें ही हैं।

आपके लिखे अनुसार वह पश्वाचारी तांत्रिक, पशुशक्ति से युक्त अर्थात् शक्ति का अपने स्वार्थ के प्रति दुरुपयोग करता था। अतः जब शक्ति उसके चित्त के आधार पर कार्य करती थी तो पशु शक्ति हो जाती है। गुलवणी महाराज ने आपको जो मंत्र दिया वह उस पशु शक्ति के द्वारा समस्याओं का समाधान करने हेतु आपको दिया। आपके चित्त में गुलवणी महाराज के प्रति श्रद्धा एवं भावना थी। आपके चित्त में उनके संस्कार संचित थे। इसके अतिरिक्त आपके चित्त में जन्म जन्मांतर से संचित कई प्रकारके शुभ अशुभ संस्कार भी संचित थे। जब गुरु शक्तिसे आपके चित्त में कार्य आरम्भ कर, उस पशुशक्ति से संघर्ष आरम्भ किया, तो कभी गुलवणी महाराज के रूप में तथा कभी दत्तात्रय तथा दुर्गामाता के रूप में, आपको दर्शन दिये जो कि आपके चित्त में इन सबके संस्कार पहिले से ही संचित एवं विद्यमान थे। अतः शक्ति की क्रियायें विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में आपको अपनी क्रियाओं के रूप में दर्शन देती है। शक्ति एक ही है। दो नहीं हैं। ऐसा हमारा निश्चित मत है।

शुभचिंतक

शिवोन्मत्तार्थ

With Best Compliments From

**M/s GAJRA GEARS
(PVT) LTD.**

Green Street, Fort Bombay-400 023.

Tel : 29 87 88

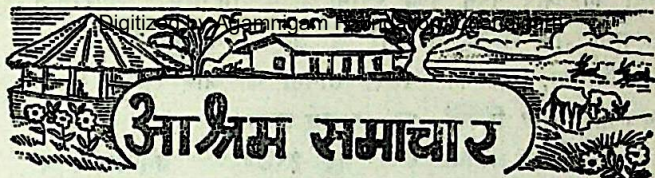
**Telex 011—3856 Bombay
Works : STATION ROAD,**

Dewas : (M. P.)



ASSOCIATES :

**M/s G. G. AUTOMOTIVE GEARS
(PVT) LTD.
Dewas (M. P.)**



आश्रम समाचार

इस वर्ष गुरुपूर्णिमा दिनांक १३.७.८४ शुक्रवार को थी। गुरुपूर्णिमा उत्सव दिनांक ७.७.८४ से १३.७.८४ तक मनाया गया। बड़े उत्साहपूर्वक देवास, ऋषिकेश, राय-सेन, वावई, तथा मुरैना आश्रमों पर सानन्द तथा सोल्लास मनाया गया।

देवासको छोड़कर शेष स्थानों पर चित्रपूजन, प्रवचन, कीर्तन, प्रसाद - वितरण इत्यादि विभिन्न कार्यक्रम संपन्न हुए; किन्तु इस उत्सव का मुख्य कार्यक्रम देवासमें विशेष रूप से संपन्न हुआ। भजन, कीर्तन, गुरुपूजन, प्रवचन, प्रसाद वितरण आदि कार्यक्रम हुए। प्रातः एवं सायंकालीन समूह-साधना एवं दोनों समय सत्संग तथा रात को भजन-कीर्तन इत्यादि का कार्यक्रम भी हुआ।

गुरुपूर्णिमा के दिन तो सुबह साढ़े छः बजे से ही पूजन आरंभ हो गया था जो कि करीब साढ़े तीन बजे तक चलता रहा, भारत के विभिन्न प्रदेशों से जैसे कि पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, अंदमान, आंध्र गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और दक्षिण-अनेकानेक साधक गण इस उत्सव में सम्मिलित थे। जब भी जाओ गुफामें साधकों के लिए बैठने की जगह नहीं।

संध्याकाल फोटो का भी कार्यक्रम रहा जिसमें बच्चे बड़ी मस्ती-मौज में थे। प्रवचन में महाराज श्री नारायणतीर्थजी ने मंगल प्रस्ता-

वना की और परम पूज्य स्वामी श्री शिवोम् तीर्थजी महाराज ने संन्यासी और साधक के बारे में और साधना का महत्व, सेवा और साधना, सेवा का स्वरूप, साधना की आवश्यकता, मन की चंचलता आदि विषयों पर प्रकाश डाला।

इन सबके अलावा माह मई १९८४ में ब्रह्मचारी श्री परशुराम प्रकाश ने ली हुई संन्यास दीक्षा की रंगीन वी. डी. ओ. फिल्म भी दिखायी गई। वच्चे-बूढ़े सभी देखने में तल्लीन ! कैसा समझ था प्रकृतिका। ऊँचे ऊँचे पहाड़, चारों ओर ऊँचे ऊँचे वृक्ष, हरियाली ही हरियाली और सामने गंगा का किनारा। बीच बीच में वेद मंत्रों के उच्चार। भाषण देते हुए गुरुजी कितने भावाविभोर अवस्था में थे जो अवर्णनीय है। दृश्य इतना सुहावना, सुंदर पवित्र की देखाही करो। अंतिम भाषण इतना अदभुत, रोचक एवं आध्यात्मिक दृष्टिसे उपयोगी था कि मैं तो सुघबुध खोके ताकतही रहा। दुर्भाग्य से कुछ मिनटों के लिए बीडीयो बंद हो गया। जब अमृतरस पी रहे थे—कि मानो किसीने बाधा डाल दी ऐसा धक्का लगा। अहमदाबादवाले भाई श्री सुरेश आचार्य ने बीडीयो का सब इंतजाम किया था।

बाहर से बहुत बड़ी संख्या में साधक सम्मिलित हुए थे फिर भी आश्रम और भोजन आदि की व्यवस्था बड़ी सुंदर रही।

कई लोगों को दीक्षा दी गई। पू. महाराज श्री बड़े मजे और आनन्द में थे। इस समय साधक गण परस्पर आपसमें बहुत मिलते रहे। इंद्र महाराज की कृपा से भोजन बड़े सुचारु ढंग से संपन्न हुआ यानी बरसात की कोई कठिनाई नहीं थी।

स्वामीजी महाराज का आगेका कार्यक्रम

गुरु महाराज शायद १७.७.८४ को मिलाई जाने को प्रस्थान करेंगे। वहाँ चतुर्मास करेंगे।

Shri C. L. Bhasin
Near Teen Darshan Mandir,
Camp. 1, BHILAI (M. P.)
P. C. 490023

चतुर्मास समाप्तिपर महाराज श्री दिनांक १०.९.८४ को ऋषिकेश के लिए प्रस्थान करेंगे। दिनांक १६.९.८४ को पूज्य गुरु महाराज श्री विष्णुतीर्थजी महाराज की पुण्यतिथि है।

वैसे तो सभी आश्रमों पर पुण्यतिथि के त्रिमिन्न कार्यक्रम आयोजित किये जायेंगे किन्तु मुख्य भंडारा तथा कार्यक्रम योग श्री पीठ, ऋषिकेशमें संपन्न किया जायेगा।

महाराज श्री ऋषिकेशसे दिल्ली, भोपाल, रायसेन और रायसेन से देवास पधारेंगे।

नवीन पुस्तक आ गई है ।

शक्तिपात प्रथमदर्शिका

भाग - २

अर्थात् कुण्डलिनी सिद्धमहायोग

२० रुपये

: लेखक :

स्वामी श्री शिवोन्मीर्त्थजी

: मुद्रक :

देवेन्द्र विज्ञानी-विज्ञानमेस ऋषिकेश

: प्रकाशक :

स्वामी विष्णुतीर्थ शिक्षा प्रतिष्ठान-बंबई

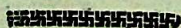
पुस्तक का जेकेट बड़ा सुंदर है. जिसपर ब्रम्हलीन गुरुदेव श्री स्वामी विष्णुतीर्थजी महाराज का सुंदर फोटो है। अंदर के भाग में ब्रम्हलीन परमगुरु नारायण तीर्थदेवजी महाराज का धर्म करने लायक सुंदर फोटो है।

पुस्तक में १० विभाग हैं:-

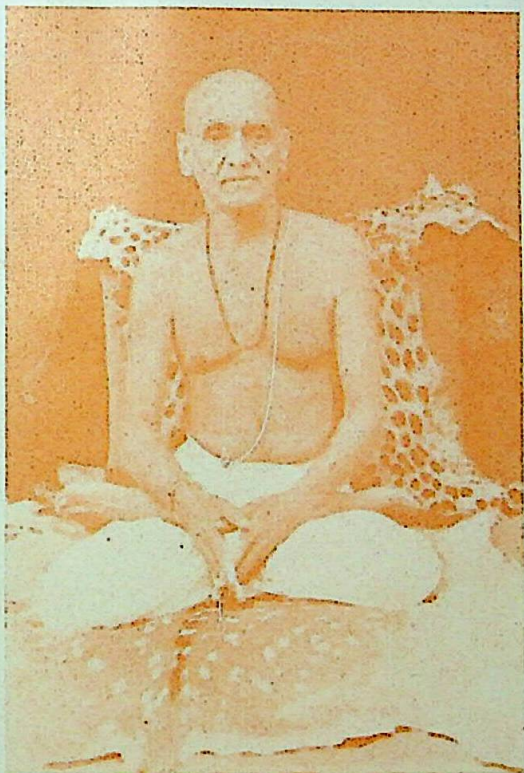
१. प्रस्तावना, २. विषय प्रकाश, ३. महायोगप्रकाश ४
योगसिद्धान्त प्रकाश, ५. हठयोग प्रकाश, ६. मन्त्रयोग,
७. लययोग, ८. राजयोग, ९. विविध अनुभव-विवरण,
१०. कवित्व प्रकाश.

प्राप्तिस्थान

- १' नारायणकुटी, संन्यास आश्रम देवास (एम. पी.)
२. योग श्री पीठ मुनिकी रैती ऋषिकेश २४९२०१ (उ. प्र.)
- ३' विज्ञान प्रेस ऋषिकेश जिला-देहरादून (उ. प्र.)
४. स्वामी शिवोम् तीर्थ आश्रम मुखर्जीनगर रायसेन (एम.पी.)
५. स्वामी विष्णुतीर्थ शिक्षा प्रतिष्ठान, २-ए, चर्चगेट मैन्शन
ए - रोड, चर्चगेट, बंबई-४०० ०२०



—: योगीराज :—



॥ ब्रह्मलीन श्री १०८ वामनराव गुळवणी जी महाराज ॥

* इस अंक में *

१. देवात्म शक्ति (हिंदी अनुवाद) श्री. प्रभुदयाल मिश्र
२. श्री. गुरुग्रंथसाहित्य— स्वामी श्री शिवोम् तीर्थजी
३. स्वामी शिवोम् तीर्थ जी से बातचीत श्री. चंद्रशेखर दुवे
४. पत्रावली स्वामी हंसानंद गिरी
५. आश्रम समाचार व्यवस्थापक योगश्रीपीठ ऋषिकेश
६. प्रवास कार्यक्रम
मंत्री श्री नारायण कुटीन्यास सन्यास आश्रम—देवास (म. प्र.)

H नियमावली H

१. ग्राहक सदस्यता जनवरी से ही पूरे वर्ष के लिए आरम्भ होगी।
बीचमें सदस्य बननेवालों को उस वर्ष के पिछले अंक उपलब्ध होंगे तो भेज दिये जायेंगे।
२. लेखकों से निवेदन है कि रचनाएँ कागज की एक ही ओर पर्याप्त हाशिया छोड़कर स्वच्छ अक्षरों में लिखकर भेजें।
३. लेखक अपनी रचनाओं की प्रतिलिपि अपने पास रख लें।
अस्वीकृत रचनाओंको वापस भेजनेका प्रबंध नहीं है।
४. लेखों के परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, छापने अथवा न छापने का पूरा अधिकार मुद्रक-प्रकाशक तथा सम्पादक को है।
५. पत्रव्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।
और उत्तर पाने के लिये डाकव्यय भी अवश्य भेजें।
६. पत्र-व्यवहार तथा शुल्क भेजने का पता प्रथम पृष्ठ पर है।
७. अभी तक शुल्क नहीं भेजा हो तो, कृपया सत्वर भेजिये।
८. पता बदल जाने पर शीघ्रतिशीघ्र पत्र लिखें।

देवात्मशक्ति

यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ।

वर्ष : ३] १५ अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर १९८४ [अंक : ४

प्रेरणा के स्रोत :

शक्तिपात प्रवर्तक श्री स्वामी नारायण तीर्थदेव जी ।

शक्तिपाताचार्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ॥

उद्देश्य :

लोककल्याणार्थ सिद्धसाधन शक्तिपात सम्बन्धी गवेषण,
अनुसन्धान एवं ज्ञातव्य-प्रकाशनादि द्वारा श्रेयपथप्रशस्ति ॥

वार्षिक शुल्क —

दस रुपये—

आजीवन सदस्यता शुल्क

भारतमें : २५१ रुपये — विदेशमें : १०० डॉलर

प्रकाशन मास :

फरवरी, मई, अगस्त, नवम्बर

शुल्क भेजनेका और पत्रव्यवहार का पता —

मनहरलाल एम. पंड्या

F/91 गौतमनगर तीसरा मजला, लोकमान्य टिंक मार्ग,

बोरीवली (पश्चिम) बंबई ४०० ०९२.

Shop-Tel. No. 291790

With Best Compliments From

RANJITKUMAR & CO.

VIPUL FABRICS

Printed Polyester & Cotton Sarees.

**233, 5th Lane, Mangaldas Market,
BOMBAY-400 002.**

Shop-Tel. No. 29 17 90

With Best Compliments From

ASHOKKUMAR & CO.

SHREE JAGADISH SILK MILLS

FANCY CLOTH MERCHANTS.

**57, 5th Lane, Mangaldas Market,
Bombay-400002.**

Branch: 0-11, BOMBAY MARKET, SURAT-3.



देवात्म शक्ति

लेखक :—

अहमलीन श्री श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थजी महाराज

अध्याय १८ वाँ

पुनरीक्षण व पूर्वाभास



इस अंतिम अध्याय में पिछले पृष्ठों पर वर्णित विषय वस्तु को एक विहंगम दृष्टि से देखने की चेष्टा की जा रही है ताकि पाठकों को सामान्यतया व साधकों को विशेष रूप से आत्म ज्ञान का पूर्वाभास कराया जा सके। “आत्म ज्ञान का क्या आशय है? व जीवन में इसकी क्या उपयोगिता है?” “इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है?” और “इसके द्वारा व्यक्तिगत जीवन को कैसे प्रभावित, परिवर्तित व परिष्कृत

Digitized by eGangotri Foundation, Chandigarh
 किया जा सकता है। ये प्रश्न बहुत प्रासंगिक व महत्वपूर्ण हैं तथा इनका संतोषजनक हल आवश्यक है।

व्यापक संदर्भ में आत्म-ज्ञान का अर्थ जीवन में व्यक्तिशः अन्यतम विकास प्राप्त कर लेना है। एक दूसरे भाव से इसका अर्थ—श्रेष्ठतम ज्ञान प्राप्त कर लेना भी है। इन दोनों ही अर्थों में आत्मज्ञान से आशय व्यक्ति का सर्वोत्तम विकास है। यह विकास मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से संपूर्ण है।

यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि मनोविज्ञान अपने नाम से भिन्न बहुत कुछ है। कहा तो यह भी जा सकता है कि आज के युग जितना मनोविज्ञान इतिहास में कभी नीचे नहीं गिरा है। इसका आदि - उद्गम से सारा संबंध टूट गया है। मनोविज्ञान के इतने सिद्धांत व इतने शास्त्र होने के बाद भी आज इसकी यह हालत है। मनोविज्ञान को नया विज्ञान कहा जाता है। कम से कम पश्चिमी विद्वान तो ऐसा ही कहते हैं। उनके अनुसार मनोविज्ञान २० वीं शताब्दि का विज्ञान है। यह पूरी तरह से असत्य है। संभवतः यह सबसे प्राचीन विज्ञान है। पश्चिम में ही सुकरात बहुत पुराना दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक था। अंग्रेजी में "साइकॉलॉजी" शब्द ग्रीक भाषा के "मुखे" शब्द से आया है, जिसका अर्थ "आत्मा" है। यूनान के इस महान दार्शनिक को आत्मा की अमरता को समझाने के कारण विषयान करना पड़ा था। स्वाभाविक रूप से लोग इसके बाद मनोविज्ञान को उसके मूल रूप में प्रयोग में लाने से कतराते रहे।

भारत में योग के प्रमाण - जैसे, हठ, मंत्र, लय, राज, कर्म, ध्यान और भक्ति आदि सभी मनोविज्ञान हैं, जो कि आर्य संस्कृति में पर्याप्त प्रचलित थे।

पश्चिमी मनोविज्ञान ने सुकरात की मृत्यु के साथ ही उसकी

आत्मा खो दी। चार्ल्स फॉक्स ने अपनी किताब में यह ठीक ही कहा है कि आत्मरहित मनोविज्ञान अनात्म होता है। अपने विकास के चरण में मनोविज्ञान मन का अध्ययन बना। शरीर और मन के संबंधों की पहली बड़ी जटिल है। “मन क्या है?” इस प्रश्न के उत्तर में कभी कभी हास्यास्पद तौर पर कह दिया जाता है “कोई अर्थ नहीं” और जब पूछा जाता है— पदार्थ क्या है?” तो उत्तर होता है—“कोई बात नहीं!” इस के बाद से मनोविज्ञान से मन विछुड़ गया है। तीसरे चरण में डिकार्टेज (१५९६-१६५०) ने यह स्पष्ट किया कि मन ऐसा सार तत्व है जो चेतना से बनता है, तब से पश्चिम में मनोविज्ञान चेतना का पर्याय बन गया है। किंतु चेतना एक ऐसी आमिजाब्य मीनार बन गई, जहां साधारण-तथा किसी का प्रवेश संभव नहीं था। एक दृष्टा केवल व्यवहार ही देख सकता है। इस प्रकार मनोविज्ञान द्वारा वस्तुगत अध्ययन का आरंभ हुआ। जैसा कि जे. ए. थाम्सन ने कहा है, वैज्ञानिक निष्कर्षों का महत्त्व वैयक्तिक प्रभाव को निर्मूल करके ही प्रकट होता है। आज के पश्चिम का मनोविज्ञान यही है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पश्चिम में मनोविज्ञान ने पहले आत्मा को खोया फिर मन को खोया, उसके बाद चेतना खो दी। अब उसके पास अपनी ही किस्म का एक “व्यवहार” बचा है।

प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान आत्मा का अध्ययन है। यह आत्मा की अमरता व जन्म-मृत्यु की श्रृंखला में विश्वास करता है। एक रूपक की शैली में कठोपनिषद् के अनुसार आत्मा रथी है, उसका शरीर रथ है, बुद्धि सारथी, मन लगाम व इंद्रियां घोड़े और पदार्थ मार्ग की वस्तुएं हैं। इस प्रकार जीवात्मा एक दृष्टा व भोक्ता है।

सभी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का उक्त आधार पर दो भागों में बांटा जाना उपयोगी है। पहली किस्म उस मनोविज्ञान की है जो मनुष्य को अपनी दृष्टि अथवा अनुमान के अनुरूप देखता व समझता है। आज का मनोविज्ञान ऐसा ही है। दूसरा मनोविज्ञान मनुष्य को उसके विकास की श्रेष्ठतम संभावनाओं के आधार पर देखता है। देवात्म-शक्ति इसी विद्या की पक्षधर है।

तब प्रश्न हमारे सामने यह है, —“मनुष्य के विकास का क्या मतलब है? व इसके लिए क्या कुछ विशेष परिस्थितियां जरूरी हैं?”

डार्विन व आज के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार विकासवाद का अर्थ है—” विभिन्न जीवधारियों की तुलना में मानवीय जैविकी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन। “ विकासवाद का यह अर्थ हमें स्वीकार्य नहीं। हम मनुष्य के पिछले विकास को स्वीकार नहीं कर सकते तथा आगे के मशीनी विकास की संभावनाओं को भी नकारते हैं। अर्थात् विकास पैतृक अथवा प्राकृतिक आधार पर बिना किसी मानवीय चेतन, चेष्टा के संभव हो सकता है, हम नहीं मान सकते।

यह एक वास्तविकता है कि मनुष्य को हम जैसा मानते हैं, वह अपने आप में पूर्ण नहीं है। प्रकृति उसे एक सीमा तक ही विकास में सहायता पहुंचाती है व उसके आगे उसे अपनी चेष्टा से ही बढ़ना होता है। वह इस चेष्टा में विकसित भी होता है व अधःपतित भी हो सकता है। अतः वर्तमान संदर्भ में विकास से हमारा मतलब उन आंतरिक गुणों, शक्तियों की समुन्नति से है, जिन के लिये व्यक्तिगत चेष्टा जरूरी है। हमारा अनुभव व ज्ञान यह बताता है कि यह विकास कुछ विशेष परिस्थितियों में ही संभव है। ये परिस्थितियां ऐसे लोगों

सान्निध्य से उत्पन्न होती है, जिन्होंने स्वतः विकास कर लिया है। अतः यह शुरु से ही जान लेना जरूरी है कि बिना प्रयत्न और चेष्टा के तो विकास असंभव है तथा बिना बाह्य मदद के भी इसे प्राप्त करना कठिन है। यह जान लेना भी जरूरी है कि आत्म विकास के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति पूरी तरह से परिवर्तित हो जाता है। उसके जीवन का व्यवहार बदल जाता है। यहां हमें यह भी जान लेना जरूरी है कि इस भिन्न व्यवहार का अर्थ या मतलब क्या है? व कब इस प्रकार की विशिष्टता आदमी में आती है। यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि सामूहिक विकास प्रायः असंभव है। कम से कम यह अपवाद के रूप में ही हुआ माना जा सकता है। यह भी उल्लेख प्रासंगिक ही है कि आगे इस तरह के विकास की संभावना और भी क्षीण है।

ऊपर जी कुछ भी कहा गया है, उससे कुछ और प्रश्न उत्पन्न होते हैं— जैसे,— “विकास के मार्ग में चलते हुए मनुष्य भिन्न प्राणी हो जाता है, इसका क्या मतलब होगा?” “भिन्न प्राणी से मतलब क्या है?” “मनुष्य में किन आंतरिक क्षमताओं, गुणों व शक्तियों का विकास होता है?” “यह कैसे संपादित किया जाता है?” “सामूहिक विकास क्यों असंभव है?” “सभी मनुष्य सामान्य रूप से क्यों विकसित नहीं हो सकते?” “क्या यह अन्यायपूर्ण नहीं है?”

इस प्रश्न का उत्तर आसान है कि सभी मनुष्य विकसित होकर भिन्न व्यक्ति क्यों नहीं बन सकते। सभी मनुष्य विकसित होकर विशिष्ट नहीं बन सकते क्योंकि वे ऐसा चाहते नहीं हैं। वे वास्तव में यह जानते भी नहीं हैं तथा यदि उन्हें बताया जाता है तो समझते नहीं हैं। विशिष्ट होने के लिये उसकी चाह, बहुत जरूरी है व इस इच्छा को चिरकाल तक संजोता पड़ता

है। पारिवर्तिक अथवा सामाजिक जीवन के किसी अवसाद से उत्पन्न नैसर्गिक इच्छा विकास की आवश्यकता को प्रकट नहीं करती। आध्यात्मिक विकास के लिये मनुष्य की इच्छा में तीव्रता व निरंतरता की जरूरत होती है। मनुष्य को यह भी जानना आवश्यक है कि उसे क्या प्राप्त होगा व उसके लिये उसे क्या देना होगा। बिना इच्छा की तीव्रता के सतत चेष्टा, समर्पण व त्याग नहीं आ पाता। अतः अन्याय का यहां कोई प्रश्न उपस्थित नहीं होता। मनुष्य वह कैसा पा सकता है जो वह पाना ही नहीं चाहता ? यदि मनुष्य अपने प्राप्त से दूर किया जाता है तब किसी अन्याय की बात उठेगी। ज्ञान अथवा विकास के संबंध में शास्त्रीय सिद्धांत, अध्ययन अथवा माषण से भी लाभ नहीं होता। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट घोषित किया गया है,—“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।” अर्थात् आत्मज्ञान, बुद्धि, अध्ययन अथवा प्रवचन से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

“आत्मज्ञान का अर्थ क्या है?” इस प्रश्न का उत्तर संक्षिप्त है— आत्मा मनुष्य के भौतिक अथवा सूक्ष्म शरीर उसकी इन्द्रियों, मन, बुद्धि व अहंकार आदि सबसे भिन्न है। वह अपने मूल रूप में दिव्य है। आत्मज्ञान द्वारा व्यक्तिगत चेतना को ईश्वरीय दिव्य विश्व चेतना में मिलाया जाता है। यह मनुष्य का ऐसा सर्वोत्कृष्ट विकास है, जो उस की अपनी चेष्टा व गुरु से प्राप्त अनुग्रह के आधार पर संपादित किया जाता है। कुछ व्यक्तियों का विश्व चेतना से तादात्म्य हो जाता है। ऐसे लोगों को ही गुरु कहा जाता है। वे वास्तव में “गोविंद” का ही रूप होते हैं।

जब सवाल यह रह जाता है कि आत्मज्ञान के लिये इतने श्रम की सार्थकता क्या है? इसका जीवन में आखिर

उपयोग क्या है? उत्तर सरल है, मनुष्य अपने आप में पूर्ण है? क्या वह श्रेष्ठतर नहीं होना चाहता? सभी लोग जानते हैं कि संसार के सारे सुख व सुविधाएं हमें वह मानसिक शांति नहीं दे पातीं, जिसके लिये हमारी सारी चेष्टाएं हो रही हैं। हमारा कहना यह है कि जो हम चाहते हैं, वह तभी प्राप्त हो सकता है जब हमारी वैयक्तिक व विश्व चेतना की दूरी आत्मज्ञान के सेतु से पाट दी जाये।

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि आत्मज्ञान के इस विकास को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? व वह की-सी स्थितियां हैं व कौन-से साधन हैं, जिनसे इस विकास में सहायता मिलती है? यदि मनुष्य उन नई शक्तियों व सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता है, जो उसके पास वर्तमान में नहीं हैं तो वह इसे प्राप्त कर सकता है। मनुष्य नहीं जानता है कि वह क्या है। उसे यह समझना जरूरी है कि वह एक ऐसा यंत्र है, जिसे बाहरी प्रभावों के उपकरण गति में लाते हैं। उसकी सभी क्रियाएं, शब्द, भावनायें, वृत्तियां व विचार बाहरी प्रभावों से संचालित होते हैं। अपने आप में वह स्मृतियों व पूर्वानुभवों का ऐसा भंडार है, जिसमें गतिशीलता की शक्ति विद्यमान है। हमें यह जानना जरूरी है कि मनुष्य के भीतर छिपा हुआ वास्तविक मनुष्य उसकी आत्मा है, जो कुछ करता नहीं है। यह आत्मा प्रकाश की तरह शारीरिक मशीन की क्रियाओं को उद्घाटित करती है। किंतु मनुष्य उसे नहीं समझ पाता व क्रिया के लिये आत्मा को उत्तरदायी ठहराने लगता है। वास्तव में मनुष्य जो कुछ सोचता या करता है वह केवल होता है। यह ठीक वैसे ही होता है, जैसे अपने आप में जलवृष्टि होती है अथवा तूफान आते हैं। सौभाग्य से अथवा

दुर्भाग्य से अज्ञेयी आत्माओं को मानवीय क्रियाओं को व्यक्ति करने वाले निर्व्यक्तिक क्रिया-रूप नहीं है। यही कारण है कि हम कह देते हैं कि मनुष्य सोचता है, करता है, पढ़ता है, चाहता है, वृणा करता है, लड़ता है आदि। वास्तव में यह सब केवल होता है। मनुष्य अपने-आप में न तो सोचता है, न बोलता है। वह तो प्रकृति के भौतिक व परामानसिक नियमों के द्वारा अदृश्य तांगे से संचालित एक खिलौना मात्र है।

ईश्वर ब्रह्माण्डीय रचना शक्ति का मूल उद्गम है। वह जड़ व चेतन पदार्थों का मूल कारण है। पिछले अध्यायों में यह कहा गया है कि वैदिक साहित्य, इसे प्राण कहता है व यह भौतिक व परामानसिक दोनों ही रूपों में प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में जहां वह एक ओर मन और बुद्धि का रूप ग्रहण करता है। वहीं दूसरी तरफ भौतिक अणु-परमाणु बनता है। दूसरे जीवधारियों की चेतना भी विश्व-चेतना से भिन्न नहीं है किन्तु उनकी चेतना व्यक्तिनिष्ठ अवश्य रहती है। इसीलिये यह जरूरी है कि अपने-आपको जानने के लिए श्रेष्ठतर शक्तियों का विकास किया जाये व ऐसी चेष्टाएं की जायें जो अंतःप्रेरणा द्वारा परिचालित हो। चेतना की परा-शक्ति की एक झलक मात्र से मनुष्य में अमृतत्व भर जाता है व उसकी क्षमता तथा इच्छा-शक्ति प्रबल हो जाती है।

शुरू में ही यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य में एक आत्मा है। इस आत्मा से अहंकार की उत्पत्ति हुई है व अहंकार विचारों के माध्यम से आकारों तथा पदार्थों में अभिव्यक्त होता है। चेतना भी आत्मा की एक अभिव्यक्ति है किन्तु जब इसे पदार्थों की ओर प्रेरित किया जाता

है तो यह वस्तु उन्मुख हो जाती है व आत्मा से विलग रहती है। वस्तु चेतना बदलती रहती है जबकि आत्म चेतना स्थिर है। साधारण भाषा प्रयोग में चेतना को बुद्धि या मानसिक क्रिया के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। वास्तव में चेतना मनुष्य की ऐसी जागरूकता है जो उस की मानसिक क्रियाओं से भिन्न है। यह जागरूकता अपने अस्तित्व, अपने वातावरण व अपने ज्ञान एवं अज्ञान की प्रतीति पर आधारित होती है। चेतना के महत्वपूर्ण क्षण मानसिक इच्छा, अनिच्छा, भय आदि की भावनाओं की स्मृतियों को गहराते हैं। कुछ मौकों पर मनुष्य कुछ भी याद नहीं रखता। चेतना की अवस्थाएं कम से कम अपने-आप में अनुभव की जा सकती हैं व देखी भी जा सकती हैं। सब से पहले इस में अंतराल आता है व इस के बाद निरंतरता तथा गहराई में उतरने की तीव्रता।

चेतना को विशेष अध्ययन व सतत चेष्टाओं द्वारा निरंतर व नियमित किया जा सकता है। मनुष्य की चेतना की अवस्थाएं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि आदि चार हैं। जाग्रत चेतना में, आत्म चेतना व वस्तुचेतना दोनों ही मौजूद होती है। हालांकि एक साधारण मनुष्य चेतना का अर्थ वस्तु चेतना ही लगाता है। वास्तव में मनुष्य की संभावना इन चारों अवस्थाओं में रह सकने की होती है, किंतु वह रहता केवल दो ही स्थितियों में है। उस का जीवन का एक पक्ष, स्वप्न व एक जाग्रत अवस्था में गुजरता है। यहां तक कि यह जाग्रत अवस्था भी सुषुप्ति से बहुत ही कम भिन्न है।

यह प्रश्न उठता के है एक मनुष्य इन दो अवस्थाओं को कैसे अनुभव करता है व समझता है? आत्म चेतना एक ऐसी अवस्था है जिसमें मनुष्य अपने-आप के प्रति वस्तु-

मुखी होता है। वस्तु चेतना वह अवस्था है, जिस में मनुष्य इन वास्तविक पदार्थों के संपर्क में आता है, जिन से वह अपनी इन्द्रियों, कल्पनाओं, स्वप्नों तथा व्यक्ति चेतना के कारण पृथक् हो गया है। आत्मचेतना की अवस्था में हम अपने-आप के प्रति संपूर्ण ज्ञान हासिल कर सकते हैं। वस्तु चेतना की अवस्था में हम पदार्थों व संसार की जानकारी प्राप्त करते हैं। जब मनुष्य अपनी व्यक्ति चेतना को विश्व चेतना के स्तर तक ऊंचा उठा लेता है तो वह सब जान सकता है, जो कि वह जानना चाहता है। चेतना के निम्न घरातल पर संसार मनुष्य से इतने दूर छिटक जाता है कि वह उस के विषय में सही ढंग से सोच भी नहीं पाता। अतः हमारे लिये यह जान लेना जरूरी है कि वस्तु चेतना का भी सच्चा दर्शन आत्म चेतना की विकसित अवस्था में ही होता है। यदि हम आत्म चेतना का समुचित विस्तार करना चाहते हैं तो इस के लिये हमारे प्रयास और भी सशक्त इच्छा-पूर्ण होने चाहिये। इस के लिये मनुष्य का अपने आप पर नियंत्रण जरूरी है। पतंजलि के योगदर्शन के अनुसार इस के लिये हमें सत्सान्निध्य में दीर्घ समय बिताना जरूरी है।

“सत्त्वगुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वं भावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।”

(पातंजल योगदर्शन, ३-४९)

जैसा कि पहले कहा गया है, चेतना की इन दो अवस्थाओं में अंतर समझ लेना हमारे विकास की सर्वोच्च अवस्था है। इस तरह हम इन सिद्धांतों व विचारधाराओं की ओर पहुंचते हैं, जो बिना किसी विश्वसनीय आधारों और ठोस परिणामों के चल पड़ी है। एक मनुष्य जो स्वप्न चेतना से ऊपर नहीं उठ सकता है, स्वतः चेतना की ऊच्चतर भूमि को नहीं पा सकता। इसके विपरीत सुषुप्ति अपने आप में एक ऐसी

स्थिति है, जिसमें आत्म चेतना अज्ञान से ढंक जाती है। शास्त्रों में इसलिये श्रेष्ठतर व्यक्तियों के साधन का सुझाव दिया गया है। ("उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरात्रिबोधत—कठ) तात्पर्य यह है कि एक साधक को साधनालय की आवश्यकता पड़ती है। साधनालय उन के लिये होते हैं, जो इन की आवश्यकता महसूस करते हैं व यह भी सोच पाते हैं कि वे उन्हीं के लिये बने हुए हैं। मानवीय विकास के इतिहास में इन साधन-केंद्रों का बड़ा महत्व है। भारत में इन का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से है। बिना एक शिक्षा केंद्र के विकास की संभावना ही नहीं होती है। इन के बिना कोई गति भी नहीं हो सकती क्योंकि बढ़ने के लिये यह जानना जरूरी है कि कहाँ और कैसे बढ़ना है। कुछ प्राप्त कर पाना तो इसके आगे की बात है।

संत कबीर व तुकाराम आदि ने भक्ति द्वारा आत्म-ज्ञान अपने जीवनकाल में ही प्राप्त कर लिया था। आत्म-ज्ञान के लिये भक्ति-मार्ग संभवतः सब से सरल एवं निश्चित साधन है। भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन से स्पष्ट कहा है कि सभी धर्मों का परित्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। (सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। - भगवद्गीता १८-६६) यहाँ तक कि महर्षि पतंजलि भी आत्म-ज्ञान के लिये भक्ति का उल्लेख करते हैं। उन के अनुसार ईश्वर के प्रति बिना किसी दुराव के संपूर्ण समर्पण आत्म-उपलब्धि का सब से द्रुत साधन है। (ईश्वरप्रणिधानाद्वा पातंजल योगदर्शन १-२३) मैत्रेय-उपनिषद् में कहा गया है कि एक मनुष्य छः महीने में आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। इस में केवल महत्व तीव्रता का है। अंग्रेजी के उल्लेखनीय कवि शैली की निम्नलिखित पंक्तियाँ उन के आत्म-ज्ञान का ही परिचय देती हैं:-

“मनुष्य के पथ हीन अंतःलोक में

Digitized by Agamganga Foundation, Chandigarh

एक सुंदर दिव्याकार सिंहासन पर

पहुंचते हैं जो साहसिक विचार इस के निकट

पूजते हैं, रोमांचयुक्त चरण वंदना करते

घरते हैं, इस का जाज्वल्यमान प्रकाश,

उन के स्वप्नलोक में घुसकर,

आवेष्टित करता है, उन को चिन्तारी जैसा।”

इस पुस्तक में कुंडलिनी शक्ति के जागरण द्वारा आत्म-ज्ञान के विषय को, सविस्तर बताया गया है। इस पद्धति से आत्म-जागरण के अभ्यास के लिये उन अन्य बातों को भी जानना जरूरी है, जिससे एक साधक को आत्म जागरण सुलभ हो सके। इस विराट विश्व की सृष्टि के मूल में सर्वव्यापक समष्टि ऊर्जा है। इसे प्राण शक्ति कहा जाता है। संपूर्ण विश्व भौतिक व मानसिक दोनों स्तरों पर इसी प्राण का स्पंदन है। संपूर्ण सृष्टि संरचना के बाद जो शक्ति शेष बचती है, उसे मास्तीय शास्त्रों में अनंत शेष (शेष नाश), कहा गया है। यह उस ब्रह्म की अवशिष्ट शक्ति है जो विश्व का मूल कारण है। यह अवशिष्ट शक्ति समस्त संसार को संवल देती है व जड़ तथा चेतन जीवधारियों का एकमात्र आधार है। इसे अवशिष्ट शक्ति इसलिये कहा गया है क्योंकि अनंत ब्रह्म शक्ति ही अवशेष (जो स्वयंपूर्ण है) के रूप में इस प्रकार बची है।

“ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्थ पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।”

गर्भोपनिषद् में एक शिशु के गर्भ में सृजन व विकास को समझाया गया है।

“स एवमेव सीमानं विदार्येतया द्वारा प्रापद्य। सैषा विदुति-

त्रािम- द्वास्तदेतन्नान्दम्। (ऐतरेयोपनिषद् ३-१२)

Digitized by Agamganga Foundation, Chandigarh

इस के अनुसार गर्भस्थ स्त्रुण में जीवात्म सातवु महीने में कपाल के बीच तालु से प्रवेश करती है। एक शिशु में तालु बहुत कोमल होता है व इसे घड़कता हुआ भी अनुभव किया जाता है। कुछ महीने के बाद यह झरकर कठोर होता है। इस प्रकार जीवात्मा तालु के माध्यम से ऊपर से आती है व शरीर में फैली हजारों नाड़ियों के द्वारा संपूर्ण देह में व्याप्त हो जाती है। अतः सत्त्व के शोधकर्ता को कपाल स्थित सहस्रार चक्र में ध्यान करणा महत्वपूर्ण होता है। शरीर संरचना के बाद प्राण शक्ति मूलाधार चक्र में कुंडलीवत् सर्प की भांति पड़ी रहती है। इसे ही कुंडलिनी शक्ति कहा गया है। इस शक्ति को सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से ऊपर ले जाया जाता है। यह नाड़ी मेरुदंड के मध्य स्थित है व शक्ति के ऊर्ध्वगामी वेग में मनुष्य को समाधि में ले जाती है। यदि एक व्यक्ति सहस्रार में ध्यान लगाता है तो समाधि की स्थिति स्वतः प्राप्त होती है। इस अवस्था में यद्यपि वासनाओं का पूरी तरह से क्षय नहीं होता इसीलिये योगी को समाधि से बाहर आना पड़ता है। रमण महर्षि के अनुसार यह नाड़ी सुषुम्ना का ही विस्तार है। मनुष्य के जन्म के समय कुंडलिनी शक्ति का अवतरण व साधना काल में उसका ऊर्ध्व गमन ये कुंडलिनी की दो प्रमुख क्रियाएं हैं। जब कुंडलिनी ऊर्ध्वगामी होती है तब उसे जाग्रत कहा जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गहन एकाग्रता एवं चिरकाल की साधना के बाद इसे प्राप्त किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि जहां यह प्राप्ति दुर्लभ है, वहीं साधक कभी-कभी खतरनाक स्थितियों में भी पहुंच जाता है। अतः इस मार्ग में किसी जानकार और गुरु की सहायता नितान्त आवश्यक है। एक गुरु के अनेक फायदे हैं। यहां केवल दो के ही

संबंध में बताना उपयोगी है। प्रथम गुरु साधक को उन सभी संभावित व उत्पन्न कठिनाइयों से उबार देता है जो साधक के मार्ग में आती हैं। गुरु साधक के सम्मुख उपस्थित सभी बाधाओं को हटा देता है। यह याद रखना आवश्यक है कि गुरु बोध अथवा आत्मज्ञान एक उपहार के रूप में साधक को प्रस्तुत नहीं कर देता। इस के लिये वह केवल आवश्यक सहायता करता है। आत्म-साक्षात्कार साधक की अपनी गहन चेष्टा और साधना की तीव्रता से ही प्राप्त होता है। गुरु का दूसरा लक्ष्य यह है कि वह शिष्य के आत्म-साक्षात्कार की मात्रा को गति प्रदान करता है।

गुरु केवल उन्हें ही दीक्षा देते हैं जो इस के योग्य हैं व जिनमें आत्मज्ञान की चाह है। दीक्षा देने के चार तरीके हैं—“हस्त-दीक्षा” में गुरु शिष्य के मस्तिष्क को स्पर्श करते हैं। “स्पर्श-दीक्षा” छूकर, “चक्षु-दीक्षा” देखकर तथा “संकल्प दीक्षा” मात्र विचार अथवा इच्छा के आधार पर गुरु प्रदान कर देते हैं।

एक साधक को योग के विभिन्न चक्रों का ज्ञान भी आवश्यक है। यह विचित्र लगेगा किंतु यह एक वास्तविकता है कि आज के जीव-विज्ञान को मानवीय शरीर की संपूर्ण जानकारी नहीं है। वे योग-चक्र जो हमारी दृष्टि से दूर छिपे हुए हैं, अपने कार्यों से ही अपने अस्तित्व का बोध कराते हैं। इन चक्रों का ज्ञान किसी शल्य क्रिया से एक शरीर विज्ञानी नहीं कर सकता क्योंकि वे सूक्ष्म स्तरों पर अवस्थित हैं। शरीर पर पड़ने वाला इनका प्रभाव देखा जाना कठिन नहीं है। महत्वपूर्ण चक्र के नाम हैं:-

१. मूलाधार २. स्वाधिष्ठान ३. मणिपुर ४. अनाहत ५. विशुद्ध ६. आज्ञा। इन सब को पीछे सविस्तार समझाया गया है।

Adv. Vidit Chauhan Collection, Noida

इन चक्रों का संबंध ऊर्जा संवाहक नाडियों से है। दो केंद्रों के बीच में जो ऊर्जा को ले जाने का काम करती है, उन्हें नाड़ी कहते हैं। योग शास्त्र की नाडियां शरीर शास्त्र के स्नायु-जाल से भिन्न हैं। जैसाकि सर जॉन वुडरफ ने कहा है, वे सूक्ष्म शक्ति की वाहिका हैं तथा आज के शल्य चिकित्सक अपनी पूरी कुशलता से शल्य क्रिया करके भी "इड़ा" अथवा "पिंगला" को नहीं पहचान सकते। स्वामि-विक रूप से वे योग शास्त्र की नाडियों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। जिस प्रकार दो रेडियो केंद्रों के बीच बिना तार का संपर्क बनता है, इसी प्रकार मानव शरीर में भी प्राण के संवाहक विभिन्न केंद्र हैं व उनका संबंध अदृश्य नाडियों से स्थापित होता है। योगभाषा में इन केंद्रों को कमल अथवा चक्र कहा गया है तथा वे धारों जो इन्हें जोड़ती हैं, नाडियां कहलाती हैं। सुबालोपनिषद् में इस की इस प्रकार व्याख्या की गयी है- "स्थानानि स्थानिभ्यो यच्छति नाडी तेषां निबंधनम्।"

एक शल्य चिकित्सक मृत व्यक्ति की शल्य क्रिया द्वारा इन्हें नहीं देख सकता क्योंकि वे मनुष्य को आखिरी सांस के साथ विलुप्त हो जाते हैं, कारण स्पष्ट है। जब मूल ऊर्जा ही विलुप्त हो चुकी हो तो उस ऊर्जा के केंद्र अथवा उसकी नाडियां कैसे समझ में आयेगी। यदि विद्युत के मुख्य केंद्र से विद्युत धारा का प्रवाह रुक जाये तो उस के उपकेंद्र स्वतः बंद हो जाते हैं।

जब एक साधक की शक्तिपात दीक्षा होती है तो उस की कुंडलिनी जाग जाती है। तब वह मूलाधार में उसका स्फुरण अनुभव करता है। यह स्फुरण अन्य केंद्रों से भी होता है। साधारणतया हम भय अथवा उत्तेजना काल में इसका अनुभव

किया करते हैं। जाग्रत कुंडलिनी का स्फुरण आह्लादकारी होता है। सामान्य मनुष्यों में इसका कारण उसके साधारण कार्यों व शरीर संरचना में खोजा जा सकता है। इसके विपरीत एक साधक में यह साधना काल में अनुभव में आता है व उसके आत्मज्ञान का उत्तम लक्षण है। यदि मन को इस स्फुरण में स्थिर किया जाता है व इस आह्लादकारी भाव को शारीरिक क्रियाएं अभिव्यक्त करने लगती हैं तो आत्म-ज्ञान का पथ प्रशस्त हो जाता है। वास्तव में यह स्फुरण आत्म-ज्ञान का पूर्वभास है। आनंद आत्मा से ही उद्भूत होता है। अतः यह आत्मा से भिन्न नहीं है। मनुष्य मूलवश ही इसे बाहर से आता हुआ अनुभव करता है। यदि एक मनुष्य अपने आपको ऐसे चित्रपट के रूप में देखे, जिसमें विभिन्न भाव व वस्तुपरक चित्र प्रकट होते हैं तो उसे किसी प्रकार का श्रम नहीं रहेगा। इस स्थिति में वह इन दृश्यों को अप्रभावित रहकर देखता रह सकता है। जिस अवस्था में केवल अनुभूति शेष रहती है, उस अवस्था को पूर्ण आनंद और आत्मा की विश्रांति की अवस्था कहा गया है। अक्सर साधक कुंडलिनी जाग्रत होने पर मयाक्रांत हो जाते हैं। लेकिन यह समझना जरूरी है कि कुंडलिनी शक्ति मनुष्य में दैवी चिंगारी के समान होती है व वह मानवीय आत्मा का ही एक अंग है। कुंडलिनी दिव्य मां है। यह मनुष्य को अत्यधिक स्नेहपूर्वक संपूर्ण संरक्षण देती है। क्रियावती कुंडलिनी से संबंधित योग पद्धति को "क्रिया-योग" कहा गया है।

ऊपर आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये सुगम साधनों को संक्षेप में स्पष्ट किया गया है। लेकिन यह समझना जरूरी है कि कोई भी साधन स्वतः सहायक नहीं होता। इसलिये एक व्यक्ति जो आत्मज्ञान के लिये इच्छुक होता है, उसे

नियमित व दीर्घ साधना, अनुष्ठान तथा ध्यान करना होता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि इस के अन्य आवश्यक विधान हैं।

अंत में उस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है, जो आरंभ में उठाया गया है— “एक आत्मोपलब्ध व्यक्ति अन्य लोगों से किस प्रकार विशिष्ट हो जाता है?”

जिस प्रकार मृग-मरीचिका का संपूर्ण जल रेगिस्तान की बालू के एक कण को भी नहीं भिगो सकता, उसी प्रकार एक आत्मज्ञानी संसार में अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। वह अपने अस्तित्व के साथ घटित होने वाली घटनाओं का दृष्टा-मात्र होता है। विभिन्न भाव व वस्तुएं आती-जाती रहती हैं, जबकि वह स्थिर रहता है। वह काल व स्थान की सीमा में नहीं बंधता। उस के लिये समय भूत, भविष्य और वर्तमान कालों में विभाजित नहीं होता। उस का भौतिक शरीर तो संसार में होता है किंतु वह उस के परे रहता है। वह अपने-आप को अपने शरीर से कभी नहीं जोड़ता है। इस के विपरीत वह सत्य को इस प्रकार समझता है— “मैं यह शरीर नहीं, बल्कि यह शरीर मेरा है।” “देहो-स्मिन्नाहं मम देह इति स्मर।”

तथापि एक आत्मज्ञानी कभी-भी अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कम नहीं करता। वह कर्म, कर्म के लिये ही करता है। उस के लिये सफलता अथवा असफलता कोई अर्थ नहीं रखती। किसी एक बात से वह प्रसन्न व दूसरी से वह अप्रसन्न नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के संबंध में श्रीमद्भगवद्-गीता में इस प्रकार कहा गया है “एक योगी अपने कर्म को बिना किसी लालसा के वाणी, बुद्धि और यत्नपूर्वक करता है किंतु वह कर्म के प्रति कभी आसक्त नहीं होता।”

“कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धयम्॥”

आत्मज्ञानी ज्ञाता व ज्ञेय दोनों ही हैं।

श्री स्वामी रमण महर्षि के संबंध में एक प्रामाणिक कथा है। वे पूर्णतः जाग्रत पुरुष थे। वस्तुतः मानव देह में वे मूर्तिमंत देवता थे।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में डा. राजेंद्र प्रसाद सन् १९४२ में उनके आश्रम में गये। वास्तव में महात्मा गांधी ही संपूर्ण संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे। राजेंद्र बाबू ने महर्षि से पूछा कि वे समाजों व भाषणों का इस संघर्ष में क्या महत्व देखते हैं। महर्षि ने उत्तर दिया—“समस्त समाजों के संबोधन, सारे भौतिक प्रयास व संपूर्ण संघर्ष महात्माके एक मौन के सामने फीके हैं”

डा. राजेंद्र प्रसाद ने आश्रम से लौटते हुए महर्षि से गांधीजी को कोई संदेश देने का अनुरोध किया। महर्षि ने तत्काल कहा,—“जब एक हृदय, हृदय से बात कर रहा हो तब क्या कोई संदेश होगा?” इस कथन से यह आशय नकालना आसान है कि एक ज्ञानी पुरुष सामान्य मनुष्य से किस प्रकार विशिष्ट होता है।

संक्षेप में एक ज्ञानी पुरुष बाईबिल के कथन “मैं वह जो मैं”, का प्रतिनिधित्व करता है। वह हिंदू शास्त्रों के “अहं ब्रह्मास्मि” व “सोहम् अस्मि” की सच्ची प्रतीति होता है।

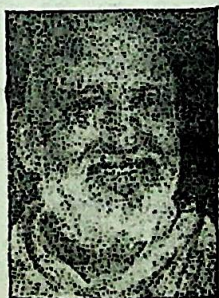




विकार मनुष्य का स्वभाव नहीं है :

शक्तिपात के बाद जो लक्षण प्रकट होते हैं, वे सबको एक से नहीं होते। कोई हंसता है, कोई रोता है, कोई गाता है, कोई चिल्लाता है, कोई उछलता है, —कूदता है, कोई और कुछ करता है। अपने संस्कार के अनुरूप सबके भिन्न-भिन्न लक्षण होते हैं।

[देवास में चामुण्डा माता की टेकरी पर जाने के मार्ग में विख्यात संगीतकार कुमार गंधर्व के भव्य साधनास्थल



के ठीक पास ही नारायण कुटी नामक संन्यास आश्रम है। इस नारायण कुटी का योग साधना स्थलों के संदर्भ में विशेष महत्त्व है क्योंकि योग की एक विशिष्ट क्रिया — शक्तिपात — का यह पीठासन है। यहाँ शक्तिपात दीक्षा दी जाती है, यहाँ शक्तिपात किया जाता है। विशिष्ट सामर्थ्य वाले

शक्ति पुंज इस स्थल को गौरवान्वित करते रहे हैं।

वर्तमान में इस संन्यास आश्रम को सुशोभित करने वाले श्री स्वामी शिरोमती तीर्थजी एक ऐसी ही विलक्षण विभूति हैं-

शक्ति ज्ञान अपना कार्य करती है, तो कियाएँ होंगी ही। इस शक्ति के द्वारा चित्त शुद्धि का कार्य होता है। चित्त पर संस्कारों का जो विकार आ जाता है, उसी की शुद्धि होती है। शक्ति चैतन्य स्वरूपा है। अतएवं चैतन्य में बारबार शक्तिपात होता ही नहीं। गुरु की शक्ति शिष्य की शक्ति को जागृत कर लौट आती है।

आप योग शास्त्र के प्रकांड विद्वान हैं। साथ ही आप एक कुशल लेखक भी हैं। आपके कई ग्रंथरत्न प्रकाश में आ चुके हैं तथा विद्वानों द्वारा मुक्त कंठ से सराहे गए हैं। इस विषय पर पूर्ण अधिकार होने के कारण आपने इस कठिन शास्त्र को साधारण जनों के लिए भी सुगम बना दिया है।

कठोर साधना के द्वारा आपने विशिष्ट आध्यात्मिक शक्ति अर्जित की है। इस विशिष्ट शक्ति के द्वारा आप अपना स्वयं का तो कल्याण कर ही रहे हैं, लगे हाथों दूसरों का भी इस कल्याण पथ का पथिक बना रहे हैं। अपनी इस शक्ति के प्रताप से आप दूसरे के भीतर सोई पड़ी शक्ति को जगा देते हैं। देश तथा विदेश के कई लोगों को यह शक्तिपात दीक्षा देकर आपने शंकृत किया है। कई के जीवन में आपके कारण निखा आया है।

आपका दृष्टिकोण बड़ा उदार तथा व्यापक है। आप हर साधना का सम्मान करते हैं। आपका चित्त बड़ा गहन, स्वभाव बहुत ही मृदु और व्यवहार बड़ा ही सरल है। इसीलिये आपके सम्पर्क में आने वाला कोई भी व्यक्ति आप से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। आपके सान्निध्य में सामर्थ्य, स्नेह और सौजन्य की प्रतीति सहज ही होती है। अपने नाम के अनुरूप आप कल्याणकारी शिव भी हैं तथा साक्षात् तीर्थवत भी हैं।

विकारों पर विजय पाना बिलकुल संभव है, क्योंकि विकार अनुष्य का स्वभाव नहीं है, स्वभाव बन गया है। इसलिए हम इसे अस्वाभाविक कह सकते हैं। इस अस्वाभाविक स्थिति से जाना संभव है।

इन दिनों आप ईसाईयों के पवित्र धर्मग्रंथ बाइबिल में शक्तिपात को रेखांकित कर रहे हैं। भक्तिमार्ग के आधार पर शक्तिपात साधना को तलाशते हुए आप यहाँ आ पहुँचे हैं। आपकी पिछली शोध यात्राओं की तरह यह शोधयात्रा भी महती उपलब्धि रहेगी।

पिछले दिनों देवास में नारायण कुटी में ही आपसे वातचीत करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उस दिन अपरान्ह बेला में जब मैं इस साधना स्थल में पहुँचा तो आप मुझे वहीं मुख्य भवन के सामने लता-मुल्मों से आच्छादित एक चबुतरे पर बैठे मिले थे। वहीं अनौपचारिक चर्चाएं चल पड़ी थीं। बाद में वहीं आपके कुछ सहयोगी तथा साधक भक्त आदि भी आते गए और सामने बैठते गए। प्राचीन युग के किसी आश्रम सा ही शांत तथा सौम्य वातावरण था वहाँ का।

उस दिन मेरी कतिपय जिज्ञासाओं के संदर्भ में स्वामीजी ने जो कुछ कहा था, उसी का सार प्रश्नोत्तर के रूप में यहाँ प्रस्तुत है—

* इस दिनों कुछ लोगों ने योग कौं होवा सा बना रखा है?

: हाँ बना रखा है पर योग होवा नहीं है।

* तो फिर क्या है?

: योग दर्शन पढ़कर देखिए। वहाँ अधिकार निर्णय नहीं है।

इसका यह अर्थ हुआ कि योग के सभी अधिकारी हैं। जिस किसी की भी योग में रुचि हो, वह इसका अधिकारी है। इसी से पता लगता है कि योग होना नहीं है। वेदांत में अधिकार निर्णय है। परम वेदरूपा भक्ति में भी अधिकार-निर्णय है पर योगदर्शन में अधिकार निर्णय है ही नहीं।

* तो इसका यह मतलब हुआ कि यहाँ पर सबके लिए मार्ग खुला हुआ है?

: हाँ। जैसा साधक, वैसी साधना। प्रारम्भिक स्तर के साधक के लिए प्रारम्भिक स्तर की साधना। थोड़े एडव्हान्सड् साधक के लिए एडव्हान्सड् स्तर की साधना। जैसे-जैसे साधक का स्तर उठता जाता है, साधना का स्तर भी वैसे ही ऊँचा होता जाता है। इसमें होवे जैसी कोई बात नहीं है।

* मतलब ये ...कि क्रमिक विकास सा होता जाता है?

: हाँ...दूसरी बात यह कि हठयोग को ही लोगों ने योग समझ रखा है। आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि को ही लोग योग मान लेते हैं। वैसे प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करना हठयोग है पर यह क्रिया कठिन है...वास्तव में कठिन है। आज के युग में तो और भी कठिन हैं, क्योंकि अब वैसा वातावरण नहीं मिलता, वैसे गुरु नहीं मिलते, वैसा शरीर नहीं मिलता, वैसा चरित्र नहीं मिलता, वैसा आहार नहीं मिलता।

* आस्था का भी तो संकट है न?

: नहीं.....नहीं। इन दिनों योग के प्रति आस्था तो बहुत

बढ़ रही है। यूरोप में, अमेरिका में, जपान में, हांग-कांग में, ऑस्ट्रेलिया में..... सभी दूर योग पर आस्था बहुत बढ़ रही है पर वे लोग योग को स्वास्थ्य के लिए ही अपना रहे हैं। आध्यात्मिकता की दृष्टि से योग को लेने वाले वहाँ बहुत कम हैं। फॉर हेल्थ एंड व्यूटीफिकेशन (स्वास्थ्य तथा सौंदर्य प्राप्ति) हेतु ही उनका आकर्षण अधिक है।

* अजूबा समझ के भी शायद...?

१ नहीं, नहीं,...यह बात नहीं है। विज्ञान-प्रधान जीवन होने से वहाँ अशांति अधिक है। जहाँ विज्ञान होता है वहाँ अशांति भी होती है। इसीलिये वहाँ योग का बहुत प्रचार है। अमेरिका में आप कहीं भी चले जाइए, छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी जगह सब दूर आपको योग केंद्र मिलेंगे। अकेले न्यूयार्क में ही सौ-पचास योग सेंटर नजर आ जाएंगे।

* वहाँ इतना प्रचार हो गया है?

: जी हाँ। खूब प्रचार है मगर योग को वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से लेने वाले लोग कम ही हैं।

* तो स्वामीजी, योग आखिर है किसलिए? आध्यात्म के लिए या स्वास्थ्य के लिए?

१ जिस कार्य के लिए भी इसे आप अपनाएंगे, उसी के लिए यह उपयोगी सिद्ध होगा। यदि आप स्वास्थ्य के लिए योग अपनाते हैं... तो यह आपका स्वास्थ्य ठीक रखेगा शरीर ठीक रखेगा। इसके लिए आपको योगासन, मुद्राएं, प्राणायाम आदि करने होंगे। इस स्थिति में आध्यात्मिक से कुछ लेना-देना नहीं रहेगा। यदि

Digitized by eGangotri
 आध्यात्मिकता के लिये योग अपनाना जरूरी है तो इसका क्षेत्र और व्यापक हो जाता है।

* योग का क्षेत्र व्यापक है?

: बहुत व्यापक है। जीवन के हर क्षेत्र पर इसका प्रभाव पड़ता है पर केवल आध्यात्मिकता की दृष्टि से जो हठयोग है, वह 'ह' और 'ठ' के योग से बनता है। 'ह' और 'ठ' ये हमारे शरीर की दो नाडियाँ हैं—इडा और पिंगला। इन्हें सूर्य और चंद्र नाड़ी भी कहते हैं। इन्हीं में श्वास-प्रश्वास प्रवाहित होता है। इन्हें जब मिलाया जाता है, तब हठ बनता है।

* आम तौर पर हठ शब्द से जो अर्थ लगाया जाता है उससे यह भिन्न है?

: विल्कुल भिन्न है। ...यहाँ पर इडा और पिंगला को मिलाने से हठ बनता है। इन दोनों नाडियों के अंदर प्रवाहित प्राणवायु को प्राणायाम के द्वारा एक स्थान पर ठहराया जाता है। यह स्थान मूलाधार है। इस स्थान पर प्राणवायु को ठहराने के बाद उसे स्पर्श किया जाता है, धक्का लगाया जाता है, यूँ धक्का लगाकर बीच की सुषुम्ना नाड़ी के भीतर इस प्राणवायु को प्रविष्ट करने का प्रयास किया जाता है। प्राणवायु को प्रविष्ट करा देने पर कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। कुण्डलिनी शक्ति के जागृत हो जाने पर साधक का काम समाप्त हो जाता है।

* यह क्रिया कठिन प्रतीत होती है?

: बहुत कठिन है। आज के युग में तो यह हठयोग और भी कठिन हो गया है। योग का यह स्वरूप और यह कार्य सामान्य व्यक्ति के लिए तो बहुत ही कठिन है। सामा-

न्यतः जिसे योग या हठयोग कहा जाता है, वह हठयोग है ही नहीं। आजकल लोग थोड़े से आसन को ही योग मान लेते हैं पर बात ऐसी नहीं है। हठयोग में शरीर को तैयार करना पड़ता है। आसन, मुद्रा, प्राणायाम चलता है। प्राणायाम के साथ-साथ प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने का प्रयास होता है। यह सब कराने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु बिना यह संभव नहीं है। समय गुरु आजकल मिलते नहीं। इसीलिए यह हठयोग आज के युग के अनुपयुक्त होकर रह गया है।

* देखिए स्वामीजी, आपने अमी जो इडा, पिंगला, सुषुम्ना, नाडी आदि का वर्णन किया था, उसे क्या शरीर विज्ञान भी मानता है? मेरा मतलब है कि योग में जिन चक्रों तथा कमल आदि का उल्लेख आता है उसे आधुनिक विज्ञान से मानव शरीर रचना में स्वीकारा है क्या? एनाटामी में?

1 माना है पर यह विषय जरा दुरूह है, क्योंकि योग में जिन चक्रों का उल्लेख हुआ है, वे शक्ति के चक्र हैं, शरीर के चक्र नहीं है। इनकी अनुभूति शरीर के स्तर पर होती अवश्य है, इसीलिये ये शरीर के चक्र मान लिये गए हैं, पर इनकी स्थिति बिजली जैसी ही है। बिजली को कोई देख नहीं सकता है। फिर भी बिजली है तो। तभी तो पंखा चलता है। बिजली नहीं रहती है, तो पंखा चलना बंद हो जाता है। आध्यात्मिक शक्ति के चक्र भी 'वेक्स' की तरह है। इसीलिये यह भ्रांति हो जाती है। शरीर में इन्हें खोजना व्यर्थ है।

* अच्छा स्वामीजी, अब कुण्डलिनी शक्ति को भी कुछ समझाइए ?

: देखिए, शक्ति तो सबके भीतर रहती ही है। इस शक्ति से ही सब इंद्रियां कार्य करती हैं। इस शक्ति के कारण ही हम बोलते हैं, चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, खाते हैं, पीते हैं। यह शक्ति हमारी इंद्रियों से अभिन्न हो गई है। इसकी कोई 'सेपरेट आइडेंटिटी' या स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा। इसलिए यह शक्ति की सुषुप्तावस्था है। यह शक्ति जब जागृत होती है, तो अंतर्मुख होकर कुण्डलिनी कहलाती है। इस शक्ति का जगत की ओर उन्मुख होना या जगत की ओर प्रवाहित होना सुषुप्तावस्था है तथा इसका अंतर्मुखी होना और आत्मा की ओर प्रवाहित होना जागृतावस्था है।

* इसका स्वरूप क्या सर्पिणी जैसा है?

: इसके स्वरूप को भी लोगों ने हौवा सा बना रखा है। भीतर कोई नागिन या सर्पिणी नहीं बैठी है। यह तो अलंकारिक भाषा है ! सिम्बोलिक है।

* अच्छा स्वामीजी, यदि यह कुण्डलिनी जागृत हो गई तो इससे उस व्यक्ति का ही हित होता है। समाज का कोई हित तो...?

: देखिए, आध्यात्मिकता इण्डीविजुअल है। सामूहिक होकर आत्महित तो हो सकता है पर सामूहिक प्रयत्न में भी कोई आगे, कोई पीछे हो जाता है। हर एक की उन्नति व्यक्तिगत ही होती है।

* लोग इसकी उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। आज का युग तो हर चीज को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है।

* देखिए, आप भोजन करते हैं, तो आपका पेट भरता है। जो भोजन नहीं करेंगे उनका पेट नहीं भरेगा पर

इसका यह मतलब तो नहीं हुआ कि भोजन निरर्थक है? भोजन की उपयोगिता नहीं है? भोजन करने के बाद ही आप समाज का काम कर पाते हैं। यही स्थिति कुण्डलिनी की है। जब आपकी कुण्डलिनी जागृत होगी, तो आप अच्छे बनेंगे। आप अच्छे बनकर दूसरों को अच्छा बनाएंगे। यह समाज की सेवा ही हुई। आपकी शक्ति दूसरों को शक्ति देगी।

* फिर भी योग की उपयोगिता पर से प्रश्नचिन्ह हटता नहीं है?

: देखिए, जगत जब यौगिक लाइन पर चलता नहीं है, तो वह योग से कोई अपेक्षा कैसे कर सकता है? केवल बातें करने से ही योग कैसे सहायक हो सकता है?

* योग के पास समाज की वर्तमान कठिनाइयों के हल यदि हैं, तो लोग इस ओर अवश्य आकर्षित होंगे। ऐसी क्षमता का तो पता लगे?

: लोग तात्कालिक लाभ से आकर्षित होते हैं। योग के पास तात्कालिक लाभ नहीं है। योग का काम धीरे-धीरे का है। यह धीरे-धीरे ही लाभ पहुंचा सकता है। समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन ला सकता है।

* गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी आदि का योग के पास कोई इलाज है क्या?

: ये योग के विषय नहीं हैं। ये विषय अलग-अलग हैं।

* तो फिर योग की साधना भी गरीब कर सकता है या नहीं?

: अवश्य कर सकता है। कर ही रहे हैं। यहां गरीब-अमीर सब आते हैं। अमीरों की अपेक्षा गरीब ही

ज्यादा आते हैं। योग में, भक्ति में गरीब अधिक रुचि लेता है।

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

* आम तौर पर तो यहाँ माना जाता है कि ये मरे पेट वालों के चोंचले हैं। क्षमाप्रायः हूँ... मैं थोड़ा उदंड हो रहा हूँ।

: कोई बात नहीं, ...पर ऐसी बात नहीं है। यहाँ अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, हिंदू-मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जैन सभी आते हैं।

* ईसाई तथा मुसलमान भी आते हैं?

: हाँ आते हैं...मगर यहाँ भारत के मुसलमान नहीं आते हैं। भारत के बाहर के आते हैं।

* ऐसा क्यों होता है।

: वो तो....छोड़िए उस बात को।...मैं ईसाइयों की एक बात आपको बताऊँ। मैं इन दिनों एक पुस्तक लिख रहा हूँ-शक्तिपात इन वाइविल।

* वाइविल में ऐसा कोई आधार मिला आपको?

: हाँ, मिला। अमेरिका में एक चर्च है। वहाँ जाने का मुझे मौका मिला, तो मैंने वहाँ पर कुछ क्रियाएं भारत जैसी ही पाईं। कुण्डलिनी को वे लोग 'होली स्पिरिट' कहते हैं। ईसा मसीह के जीवन में भी ऐसी घटनाएं परिलक्षित हुईं। इसीलिए मैंने इस ओर ध्यान दिया।

* अब इस शक्तिपात क्रिया को भी तो कुछ समझाइए?

: शक्तिपात माने शक्ति का गिरना। गुरु की चित्त-शक्ति का शिष्य की चित्त-शक्ति पर पात होना, शक्तिपात कहलाता है। शक्तिपात, यह एक औपचारिक शब्द है गुरु, जिसका चित्त बिलकुल निर्मल हो गया है यानि

काम, क्रोध, मद, लोभ, मादृ, ममी, विकारों से जो मुक्त हो गया है। अपनी शक्ति को फैलाने की या दूसरे शरीर में प्रवेश करने की शक्ति जिसमें आ गई है, वही इस क्रिया को करता है। योग दर्शन के इस सूत्र में यही बात कही गई है:-

‘बन्धकारण शैथिल्यात् प्रचार संवेदनाच्च चित्तरूप पर शरीरावेशः’

- * आप तो इसके व्यावहारिक पक्ष को ही समझाएँ । शक्तिपात आप कैसे करते हैं ?
- : देख कर, स्पर्श करके, वाणी द्वारा तथा संकल्प द्वारा । कार्यक्षेत्र बढ़ जाने से अब हम संकल्प दीक्षा ही अधिकतर देते हैं। यहाँ बैठे-बैठे हजारों कोस दूर बैठे व्यक्ति पर हम यहीं से शक्तिपात क्रिया कर देते हैं।
- * क्या कह रहे हैं आप ? यह सब होता है क्या ?
- : होता है क्या.... हुआ है। हो रहा है।
- * यह कृपा आप क्या हर किसी पर कर देते हैं ?
- : नहीं, ऐसा तो नहीं है। वैसे शास्त्र में तो अधिकारी तथा अनधिकारी के लक्षण गिनाए गए हैं पर जिसको गुरु अपना ले वही सबसे बड़ा अधिकारी । सारे शास्त्र यहाँ आकर चुप हो जाते हैं।
- * गुरु कब अपनाते हैं ?
- : शिष्य के लिए गुरु के हृदय में जब मंगल कामना जागृत होती है, तभी शिष्य का भाग्योदय होता है।
- * शिष्य को भी अधिकारी बनने के लिए अपनी ओर से कोई प्रयास करना पड़ता है ?
- : हाँ... पर शास्त्र के अनुरूप अधिकारी तो इस युग में

कोई भी हो नहीं पाता है। इसीलिए शिष्य की लगन देखकर ही गुरु के हृदय में मंगल कामना जागृत हो जाती है।

* किसी को दीक्षा देने से आप कभी मना भी करते हैं ?
: मना तो नहीं करते हैं। हाँ, टाल देते हैं। बाद में जब मन बोलता है तो उसे दीक्षा दे देते हैं।

* शक्तिपात कितनी बार होता है ?

: शक्तिपात एक ही बार होता है... बार-बार नहीं होता है। एक बार शक्तिपात हो जाने पर ही जन्म-जन्मांतर तक शिष्य का पीछा नहीं छोड़ती है। मैं किसी का नाम नहीं लेना चाहता हूँ, पर आजकल बार-बार शक्तिपात वाली विचारधारा चल पड़ी है। शक्तिपात में अनधिकारी गुरु आ जाने से ही यह मिलावट शुरू हुई है। ऐसे लोगों के कारण सही विद्या अंडरग्राउंड चली जाती है।

* शक्तिपात विद्या में भी मिलावट होने लगी ? यह तो बुरी बात है पर दीपक के बुझ जाने पर कभी-कभी फिर से दीप प्रज्वलित करना पड़ता है। ऐसी ही कोई विवशता शायद रही होगी ?

: नहीं। यहाँ ऐसी कोई विवशता नहीं है। दीपक जड़ है। शक्ति चैतन्यस्वरूपा है। अतः चैतन्य में बार-बार शक्तिपात होता ही नहीं है। गुरु की शक्ति शिष्य की शक्ति को जागृत कर लौट आती है। फिर वह शक्ति अपना काम करती रहती है।

* वह शक्ति वापस सुषुप्तावस्था में भी जा सकती है ?
: नहीं। जागृत शक्ति वापस सुषुप्तावस्था में नहीं जाती है।

हाँ, आरंभ में प्रकट तो कभी अप्रकट रूप में क्रियाएं

चला करती है।

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

* शक्तिपात के बाद कोई लक्षण प्रकट होते हैं न ?

: हाँ, होते हीं हैं पर सबके लक्षण एक से नहीं होते हैं। कोई हंसता है, कोई रोता है, कोई गाता है, कोई चिल्लाता है, कोई उछलता-कूदता है, कोई ओर कुछ करता है। अपने संस्कार के अनुरूप सबके भिन्न-भिन्न लक्षण होते हैं।

* शक्तिपात दीक्षा के कितने दिन बाद ये लक्षण प्रकट हो जाते हैं ?

: इसकी भी एक सी स्थिति नहीं है। सामान्यतः तीन दिनों बाद ये लक्षण प्रकट हो जाते हैं। किसी-किसी में महीने-दो महीने भी बीत जाते हैं।

* शक्तिपात दीक्षा के बाद ये क्रियाएं क्यों होती हैं ?

: शक्ति जब अपना काम करती है, तो क्रियाएं होंगी ही। इस शक्ति के द्वारा चित्त शुद्धि का कार्य होता है। चित्त पर संस्कारों का जो विकार आ जाता है उसी की शुद्धि होती है।

* यह सारा काम जब शक्ति ही करती है, तो साधक क्या करता है ?

: साधक को इस शक्ति के सामने समर्पण करना होता है। इस शक्ति के कार्य में मानसिक या शारीरिक हस्तक्षेप न हो, यह प्रयास करना पड़ता है। जिसका हस्तक्षेप जितना कम होता है, उसकी साधना उतनी ही पूर्ण होती है। चित्त शुद्धि के लिए निर्वसन सां होना पड़ता है। मले-बुरे सभी संस्कारों से मुक्ति पानी होती है। अपने स्वामाविक स्वरूप में पहुंचने के लिए ही यह चित्त-शुद्धि होती है।

Digitized by Agamnigam Foundation, Noida

: पहले सहज नहीं था पर हमारे गुरुओं ने इसे अब सहज बना दिया। साधक को व्यावहारिक स्तर पर कुछ नहीं करना पड़ता है। गुरु उसकी शक्ति को जागृत कर अंतर्मुखी बना देते हैं। फिर सारा काम वह शक्ति करती रहती है। साधक तो बस समर्पण करता है।

* फिर भी यह सब क्या गृहस्थ के लिए संभव है?

: बिल्कुल संभव है।....हमारे यहाँ नित्यानन्द प्रतिशत साधक गृहस्थ ही हैं।

* कभी कोई ऐसा भी प्रसंग आया क्या, जब किसी ने दीक्षा लेकर शक्तिपात को स्वीकारा ही न हो?

: धैर्य नहीं रख पाने वाले तथा तात्कालिक लाभ की कामना वालों में ही यह प्रवृत्ति नजर आती है पर शक्ति फिर भी उनका पीछा नहीं छोड़ती है। मेरे अनुभव में तो हजार में एक-दो ही ऐसे नजर आए हैं।

* तो यह उस व्यक्ति की न्यूनता मानी जाए या....?

: यह न्यूनता नहीं है। समझ का अभाव है। धैर्य का भी अभाव है।

* विकारों पर पूरी तरह से विजय पाना क्या संभव है?

: बिल्कुल संभव है क्योंकि विकार मनुष्य का स्वभाव नहीं है, स्वभाव बन गया है। इसलिए हम इसे अस्वाभाविक कह सकते हैं। इस अस्वाभाविक स्थिति से स्वाभाविक स्थिति में जाना क्यों संभव नहीं है?

* यह तो जीवन की घारा के विपरीत जाना सा होगा क्योंकि विकारों पर पूरी तरह से विजय पाना कठिन है।

: मले ही कठिन हो... मगर हमें जाना ही होगा। तभी मानसिक शक्ति मिलेगी। विकारों से जीवन इतना ग्रसित होने से ही योग आवश्यक है? योग की यह सामाजिक भूमिका है।

* शक्तिपात की आपने इतनी जानकारी दी अब मुझे इसकी कुछ अनुभूति तो कराए ?

: दीक्षा ले लीजिए। दीक्षा के बिना अनुभूति संभव नहीं है।

* दीक्षा की आपकी क्या प्रक्रिया है ?

: बिल्कुल सरल प्रक्रिया है। आमने-सामने बैठ जाते हैं।

: संकल्प दीक्षा तो हजारों कोस दूर भी दी जाती है।

* कुछ औपचारिकताएं तो होंगी ?

: कोई औपचारिकता नहीं है।

* दूसरों की क्रियाएं देखें—सुनने की भी अनुमति है या नहीं ?

: देखने-सुनने से कोई लाभ नहीं है क्यों कि सबकी क्रियाएं एक सी नहीं हैं।

* तो फिर इस सब पर कैसे विश्वास किया जाए ?

राह चलती स्त्रियों को मैं गंगामाता के कलश लिए कांपते देखता हूँ। उस पर भी सहज विश्वास नहीं होता है।

: कीर्तन में भी लोग झूमते हैं मगर वह शक्तिपात नहीं है.... भावावेश है।

* तो फिर शक्तिपात का कोई चमत्कार मुझे बताइए तो ? ताकि मैं अपने पाठकों को विश्वास दिला सकूँ ?

: चमत्कार तो बाजीगर बताते हैं।

* मेरा यह आशय नहीं था। मैं तो कोई अनुभव.... कोई प्रतीति..... ?

: जिन्हें प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, उनसे पूछिए।

पत्रकार - चंद्रशेखर मुखे

श्री गुरु ग्रंथ साहिब

—स्वामी श्री ओम् तीर्थजी

सिरी राम महला ५

पहिले पहरे रंजि के वनजारिआ मित्रा धरि पाइता उदरे
माहि। दसी मासी मानसु कीआ वणाजारिआ, मित्रा करि
मुहलति करम कमाहि। मुहलति करि दीनी करम कमाण
जैसा लिखतु धुरि पाइआ। मात पित भाई सुत बनिता तिन
भीतरि प्रभू संजोइया। करम सुकरम कराए आपे इसु जेतै
वसि किछु नाहि। कह नानक प्राणी पहलै पहरे धरि पाइता
उदरे माहि ॥ १ ॥

हे वनजारे रूपी जीव-मित्र ! आयु के प्रथम चरण में प्रवेश
पाने के लिए माता के गर्भ में स्थापित होता है। भाव यह
है कि गुरु अर्जुनदेवजी इस पद में आयु-रूपी रात्रि के चारों
प्रहरों की गणना बाल्यावस्था से करते हैं और कहते हैं कि
बाल्यावस्था प्राप्त करने के निमित्त गर्भ में प्रविष्ट होता
है। वहां परमात्मा दस महीने उसे रखकर उसके लिए शरीर
निर्माण करता है। एवं उसकी आयु निश्चित करता है।
अर्थात् इस जीवन में अमुक २ सुख दुःख और भोग उपस्थित
होकर कितनी अवधि तक जीव उनको भोगता रहेगा, इसका
भी निश्चय करता है। जब तक जीव जगत् में विद्यमान
रहता है तब तक अपने प्रारब्ध कर्मानुसार शुभ-अशुभ, धर्म-

अधर्म, पाप पुण्य अथवा कर्तव्य-अकर्तव्य से मिश्रित कर्म करता है। उस कर्मों के कारणों से तत्काल सुख दुःख आदि भोगों के लिए परमात्मा ने जितनी अवधि लिखी होती है, तब तक वह शुभ-अशुभ कर्म करता रहता है। परमात्मा जीवको माता-पिता, भाई, पुत्र, पत्नी मित्र, शत्रु, वन-संपत्ति, यश अपयश, इत्यादि के बंधनों में जकड़े देता है। एवं जीव के द्वारा किये जानेवाले शुभ अशुभ कर्म भी जीव के प्रारब्धानुसार परमात्मा ही करवाता है। अर्थात् मनुष्य जो कुछ भी करता है सब ईश्वरीय-शक्ति से युक्त होकर, उस शक्ति का उपयोग अपनी चित्त-भूमिका के अनुसार करके शुभ अशुभ कर्म करता है। यदि ईश्वरीय-शक्ति उसके शरीर और इन्द्रियों से वियुक्त हो जाती है तो वह कुछ भी करने में असमर्थ हो जाता है। तब वह व्यक्ति मृत हो जाता है। गुरुजी कहते हैं कि आयु के अवस्था-रूपी प्रथम चरण में जीव माता के गर्भ में स्थान पाता है।

हे वनजारा मित्र'। आयु के दूसरे प्रहर में अर्थात् जब वह युवावस्था प्राप्त करता है, उसका वेग पूर्ण यौवन उसे अधिकाधिक इच्छाओं, कामनाओं की पूर्ति में व्यस्त सी रखता है और वह अपनी मस्ती में तरंगित रहने के कारण भले बुरे कर्मों को भी नहीं समझ पाता। काम, मोह एवं तृष्णा में उलझे हुए उसका चित्त सदैव चंचल, डांढाडौल और इस प्रकार अस्थिर रहता है। अपने तरंगित मन के अनुसार चलने के कारन उसका अहं भी बढ़ता रहता है। जब जीव इस प्रकार उचित-अनुचित का विचार किए बिना अशुभ कर्म करता है तो तत्संबंधी अशुभ संस्कार संचित होने के कारण उसका चित्त मलीन होता है। किन्तु जीव आगे के मार्ग का कुछ विचार नहीं करता। मृत्यु-पश्चात् उसका-पथ

कठिन, दुरुह, एवं यातना-पूर्ण होता है। क्योंकि उसने उस मार्ग पर चलने की उपयुक्त तैयारी नहीं की होती। वह सद्गुरु को न तो पहिचानता, समझता है और न ही उसकी सेवा ही करता है। अर्थात् गुरु की शरण में जाकर, गुरु से उपदेश, आदेश एवं नाम-दान ग्रहण नहीं करता। उसे मारने के लिए उसके सिर पर यम-दूत शस्त्रधारण किए उसके सिर पर मंडराते रहते हैं। अर्थात् मृत्यु उसके बाएं, बाएं खड़ी रहती है, जो कभी भी उसे दबोच सकती है। ऐ अज्ञानी जीव ! जब तू धर्मराज के समक्ष उपस्थित होगा तो अपने द्वारा किए हुए अशुभ कर्मों का क्या कारण बतलाएगा ? गुरुजी कहते हैं कि जीवन के दूसरे चरण में जीवन यौवन में मदमत्त, धन-संपत्ति में आसक्त एवं अशुभ कर्मों में रत रहता है। दूसरे चरण में भी गुरु-सेवा, नाम-स्मरण, एवं सद्कर्म कर के चित्त-शुद्धि का आयोजन नहीं करता।

तोजें पहरें रैणि कै वणजारिआ मित्रा बिखु संचे अंधु अगि आनु। पुत्रि कलत्रि मोहि लपटिआ वणजारिआ मित्रा अंतरि लहरि लोभानु। अंतरि लहरि लोभानु परानी सो प्रभू चिति न आवै। साध संगति सिउ संगु न कीआ बहु जोगी दुःख पावै। सिरजन हाव विसारिआ इकनिमख न लगो धिआनु। कहु नानक प्राणी तोजें पहरें बिखु संचे अंधु अगिआनु ॥ ३ ॥

हे वनजारे मित्र ! अपनी आयु के तीसरे चरण में अर्थात् प्रौढावस्था में तू अज्ञानवश विषय वासनाओं की पूर्ति के ही चक्र में पड़ा जीवन यापन करता है। तेरे चित्त में लोभ की तरंगें उठती रहती हैं और अपने परिवार के मोह-जालों में तुझे बांध रक्खा है। और अंतर में आशा-तृष्णा के प्रलोभन में भगवान का तू स्मरण ही नहीं कर पाता। उनकी वेगवती लहरों में मानों तेरा जीवन बरबस बह रहा है। और इस

प्रकार कभी भी सत्संग न प्राप्त करने के कारण अनेक योनियाँ प्राप्त करते हुए तू मटक रहा है। किन्तु उस सर्जन-हार को, जिसने तुझे जीवन देकर तेरा पालन पोषण किया है उस परम स्वामी अर्थात् प्रभु का एक क्षण मात्र के लिए भी तूने ध्यान नहीं किया। गुरु कहते हैं कि हे अंधे, अज्ञानी प्राणी ! इस प्रकार तू अपने जीवन में विष का ही संचय कर रहा है।

भाव यह है कि जगत् में मारा मारा फिरता वनजारा जीव, विषय-वासनाओं में लिप्त रहता है और अपने जीवन के तीसरे चरण में अर्थात् संपूर्ण युवावस्था योंही गंवाकर प्रौढावस्था में भी अंधे और अज्ञानी की तरह जीवन यापन करता रहता है-अज्ञानी इसलिए कि वास्तव में जीवन का कल्याण-मार्ग वह नहीं खोजता और अंधा इसलिए कि नेत्र होकर भी जगत् की अनित्यता, नश्वरता को न देखता है और न समझता ही है। क्योंकि इस संसार में सब अनित्य हैं। अतः इसके विषय भी अनित्य एवं क्षण मंगुर हैं। फिर इसके अनित्य सुख भोगों के पीछे अपनी आयु व्यर्थ ही नष्ट करते रहना, और चाहिए, और और अधिक चाहिए इस प्रकार मोह और लोभ में फंसा हुआ प्राणी जीवन को नष्ट करनेवाले विष ही का तो संग्रह कर रहा है। पुत्र, पौत्रादि के मोह में लिपटा हुआ प्राणी अपने चित्त में झूठे प्रलोभनों में उलझा रहता है। वह मनुष्य इतना अधिक माया, मोह में लगा रहता है कि, प्रभु का स्मरण तो उसके चित्त में कभी आता ही नहीं। और इस प्रकार भगवान की भक्ति, पूजा, उपासना आदिसत्संग की तो बात वह सोचता ही नहीं और परिणाम स्वरूप जन्मजन्मान्तर तक दुःख उठाता रहता है। ऐसा जीव उस सर्जनहार परमात्मा अपने स्वामी प्रभु को ही मूल

जाता है। उसका ध्यान वह एक निवेश मात्रा के लिए भी नहीं करता। गुरुनानकदेवजी कहते हैं कि अपने जीवन में तृतीय चरण में भी विष का संचय करता रहता है अर्थात् भगवान से विमुख रहकर विषकारी विषय वासनाओं में ही अपना जीवन व्यतीत करता रहता है।

चउथं पहरै रैणि कै वणजारिआ मित्रा दिनु नेडें आइआ सोइ। गुरुमुखि नामु समालि तूं वणजारिआ मित्रा तेरा दरगह बेली होइ। गुरुमुखि नामु समालि पराणी अंते होइ सखाई। इहु मोहु माइआ तेरे संगिन चालें झूठी प्रीत लगाई। सगली रैणि गुदरी अंधिआरी सेविसतिगुरु चानणु होइ : कहु नानक प्राणी चउथं पहरै दिनुनेडें आइआ सोइ ॥ ४ ॥

हे वनजारे-जीव-मित्र ! जीवन की अवस्था रूपी चतुर्थ चरण में वह दिन समीप ही दिखाई देने लगता है अर्थात् वृद्धावस्था आ जाती है और मृत्यु निकट दीखने लगती है। हे मित्र ! तू अब भी किसी सद्गुरु की शरण ग्रहण कर तथा उसके उपदेशानुसार सद्कर्म एवं नाम-स्मरण कर। अंत समय में तेरा यही एक मात्र सहारा होगा। जिस मोह माया के साथ तुने प्रेम का नाता जोड़ रक्खा है, मिथ्या होने के कारण, मृत्यु के उपरान्त यह तेरे साथ नहीं चलेगी। यह जीवनरूपी रात्रि सब की सब भ्रम के कारण तम में ही व्यतीत हो रही है। अब भी यदि तुम सद्गुरु की शरण ग्रहण करलो तो तुम्हारे अंतर में ज्ञान-ज्योति प्रज्ज्वलित हो सकती है। गुरुजी कहते हैं कि जीवन के इस अंतिम चरण में काल समीप आ गया है।

लिखिआ आइआ गोविंद का वण जारिआ मित्रा उठि चले कमाण्णा साथि। इक रती बिल मन देवनी वणजारिआ मित्रा ओनी त्रकडे पाणु हास। लिखिआ आइआ पकडि

चलाइआ मनमुख सदा दुहेले। जिनी पूरा सतिगुरु सेविआ
 से दरगह सदा मुहेले। कणम धरती सरीऊ जगु अंतरिजो
 जोवे सो खाति। कहु नानक भगत सोहीह दरबारे मनमुख
 सदा भवाति ॥ ५ ॥ १ ॥ ४ ॥

हे बनजारा मित्र ! जब प्रभु का बुलावा आता है तब मनुष्य जाने में विवश होता है। उस समय केवल प्रारब्ध ही साथ जाता है। वह इतने सशक्त हाथ डालता है कि पल भर की भी मोहलत नहीं देता और प्राणी को जाना ही पड़ता है। मृत्यु किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। ऐसी स्थिति में मनमुख जीव अर्थात् परमात्मा से विमुख जीव मृत्यु समय अनेकों यातनाओं से त्रसित होते हुए प्रयाण करते हैं। किन्तु जिन जीवों ने सदैव सद्गुरु की सेवा की है अर्थात् नाम-स्मरण करके प्रभु को अपने चित्त में धारण किया है वे परमात्मा के दरबार में भक्त जीव होने के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। जैसा बोए वैसा पाए के अनुसार शरीर रूपी घरती पर अपने २ कर्मों के जैसे बीज बोएगा वैसा ही फल उसे प्राप्त होगा। गुरुजी कहते हैं कि भक्तजीव तो सदैव परमात्मा के दरबार में शोभित होते हैं किन्तु मनमुखी जीव तो जन्म-मरण के चक्र में ही फंसे रहते हैं।

भाव यह है कि जब मनुष्य बुद्धावस्था को भी पार कर जाता है तब उसे भगवान के यहाँ बुलाया जाता है। वैसे बुलावे की कई पूर्व-सूचनाएँ मनुष्य को आती रहती हैं किन्तु विषयासक्त होने के कारण मनुष्य उधर ध्यान नहीं देता। अन्ततः ऐसा बुलावा आता है जो मनुष्य को इह-लीला समेट कर इस जगत् से प्रस्थान करने को विवश कर देता है। धर्मराज कितने शक्तिशाली हाथों से मनुष्य को आ पकड़ता है कि जीवका क्षण मात्र को इस जगत् में ठहरना असंभव हो जाता है। यदि उस समय यम-दूतों से

कहा जाए कि मुझे अभी अमुक कार्य करना है, लड़की की शादी करना है या अमुक बीमार की सेवा करना है या कुछ भी अमुक विशेष कार्य करना है तो यमराज इतना अवसर भी नहीं देता अपितु एक भी अतिरिक्त स्वास नहीं लेने देता तथा मनुष्य शरीर में से उसके प्राणों को हर कर ले जाता है। परिवारवाले रोते रह जाते हैं। जब परमात्मा का लिखा हुआ आता है तो मनुष्य को एक दम इस जगत् से अलग कर दिया जाता है। अर्थात् यह जगत् तो इसी तरह चलता रहता है केवल वही प्राणी इस नाटक से अलग कर दिया जाता है, क्योंकि नाटक में उसका काम समाप्त हो चुका होता है। ऐसी अवस्था में जो जीव मनमुखी होते हैं एवं विषयों से संबंधित संस्कार संचय करके चित्त को मलीन करते हैं उन्हें यमदूत भांति २ की प्रवृत्तियाँ देते हैं। इसके विपरीत जिन जीवों ने गुरु की सेवा की होती है। सद्कर्म किए होते हैं, नाम-स्मरण, ध्यान, पूजा, पाठ इत्यादि करके अपने चित्त को निर्मल किया है वे सदा भगवान के यहां सुख से रहते हैं। मनुष्य इस शरीर रूपी खेत में जिस प्रकार के बीज बोता है वैसा ही फल खाता अर्थात् जैसे कर्म कर के संस्कार संचय करता है, है जिस प्रकार के गुण चित्त में धारण करता है, किसी का हित या अहित करता है, किसी की प्रशंसा अथवा निंदा करता, है इसी प्रकार शुभ, अशुभ, उचित, अनुचित, धर्म अधर्म, पाप, पुण्य, कर्तव्य अकर्तव्य, जिस की प्रकार के मनुष्य कर्म करता है उसके संस्कार संचय हो जाते हैं। चित्त का यह स्वभाव है कि जिस कर्म, पदार्थ, मनुष्य अथवा परिस्थिति में रहता है उसके संस्कार संचय कर लेता है। यदि अशुभ कर्म करता, अशुभ वातावरण में निवास करता, अशुभ अशुभ लोगों में संगति करता एवं अशुभ परिस्थितियों में

विचरता है तो अशुभ संस्कार संचय करके अपने चित्त में तमोगुण एवं रजोगुण को प्रभावी बनाता है। इसी प्रकार शुभ देश, काल, पदार्थ, परिस्थितियाँ एवं वातावरण में रहता है और परहित चिंतन करता है तो अपने चित्त में सत्त्वगुण के संस्कार संचय करता तथा चित्त में सत्त्व गुण को प्रभावी करता है। इस प्रकार तमोगुण एवं रजोगुण से सत्त्व गुण की ओर, अशुभ संस्कारों से शुभ संस्कारों की ओर क्लिष्ट वृत्तियों से अक्लिष्ट वृत्तियों की ओर एवं म-युक्त, बुद्धि से विवेक-बुद्धि की ओर अग्रसर होता है। यदि सौभाग्यवश उसे किसी सत्य और पूर्ण गुरु की उपलब्धि हो जाती है तो गुरु के उपदेश, आदेशानुसार आचरण उसके चित्त में सत्त्वगुण की प्रतिष्ठामें सहायक होता है। साथ २ गुरु-प्रदत्त नाम का निरंतर स्मरण, उस नाम के रहस्य अथवा नाम के अन्दर छुपी हुई शक्ति को उसके शरीर एवं चित्त में प्रकट करके कार्य-शील बना देता है। एक ओर जहाँ साधक जीव शुभ कर्मानुष्ठान के द्वारा अपने चित्त में सद्गुणों का विकास करता है, वहीं नाम की शक्ति उसके चित्त में प्रकट और कार्यशील होकर जीव के चित्त के पूर्व-संचित संस्कारों को क्रियाओं के माध्यम से क्षीण कर देती है। यही नाम की शक्ति एकाग्र-अवस्था को प्राप्त करती एवं सत्त्वगुण को भी विलीन करती जाती है। पहले चित्त किसी सत्त्वगुणी ध्येय पदार्थ पर एकाग्र होकर संप्रज्ञात योग और फिर चित्त के ऊपर पड़े हुए अमिमान और माया के आवरण को उतार कर अपने कारण आत्मा या पुरुष में विलीन हो जाती है और अंसंप्रज्ञात योग की स्थिति प्राप्त करती है। तब साधक जीव को समाधि की अवस्था प्राप्त होती है।

यहां इन शब्दों में गुरु नानकदेवजी, गुरु रामदासजी तथा गुरु अर्जुनदेवजी ने बार २ इसी बात पर जोर दिया है कि

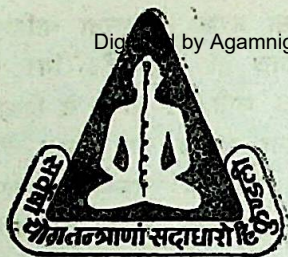
Digitized by eGangotri Foundation, Haridwar
 प्रथम तो मनुष्य को गमना-प्राप्ति में ही अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए बाल्यावस्था में ही प्रभु-प्राप्ति की ओर उन्मुख हो जाना चाहिए। यदि जीव ऐसा नहीं कर सके तो जीवन के द्वितीय चरण अर्थात् यौवनावस्था में उसे विषयों के प्रति आसक्त, यौवन के मोग के प्रति मदमस्त एवं घन-संपत्ति तथा परिवार आदि के प्रति मोह का त्याग करके तथा गुरु शरण ग्रहण कर, गुरु उपदेश, आदेश को समझ, पहिचान कर, तदनुसार आचरण एवं गुरु-प्रदत्त नाम स्मरण से अपने चित्त को शुद्ध कर ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

यदि जीव, जीवन के दूसरे चरण में भी ऐसा नहीं कर सके तो प्रौढावस्था में उसे संभल जाना चाहिए। उसे इस बात का विचार करना चाहिए कि जगत् एक भ्रम है। अनित्य और परिवर्तन शील है। जितना मनुष्य माया से अभिमूढ होकर जगत् में आसक्त, मोहित, और कर्तृत्वामि मान युक्त होता है, उतना ही इस नश्वर जगत् के बंधन में आकर सुखी-दुःखी होता संसार के घटना-क्रम से अपने चित्त को विचलित और विक्षिप्त करता एवं संस्कार संचय करके अपने चित्त को मलीन बनाता है। आत्मस्थिति से च्युत हो जाता है तथा जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। अतः यदि जीव जीवन के प्रथम दो चरणों में गुरु की शरण में नहीं जा सके तो उसे प्रौढावस्था में ही सही अवश्य गुरु-धारण करके तदुपदेशानुसार शुभ कर्मों का अनुष्ठान एवं नाम स्मरण करके ईश्वर प्राप्ति निमित्त प्रयत्न शील होना चाहिए।

गुरुजी कहते हैं कि यदि जीव जीवन के प्रथम तीन चरणों में ईश्वर की ओर अग्रसर नहीं हो सके तो चौथे चरण

अर्थात् वृद्धावस्था में तो उसे ऐसा अवश्य ही करना चाहिए। क्योंकि तब उसकी इन्द्रिया शिथिल हो जाती है। सिर के बाल हँसों की तरह सफेद पक जाते हैं। आँखों से दिखाई देना, तथा कानों से सुनाई देना समाप्त होने लगता है। उसके दांत झड़ जाते हैं जिससे जीव का रसास्वादन समाप्त हो जाता है। पांव लडखडाने और हाथ कांपते हैं। कमर घनुष की तरह झुक जाती है। लकड़ी का सहारा लेकर अथवा दूसरे का कंधा पकड़ कर चलता है तो भी उसका स्वांस फूल जाता है। मृत्यु उसको समीप दिखाई देने लगती है। उसे सोचना चाहिए कि उस अज्ञानी जीव को जिसने जीवन-मर घन-संपत्ति के संचय एवं भोग में व्यर्थ नष्ट कर दिया है। यौन की मस्ती में जिसने अवसर कुअवसर को भी ध्यान नहीं दिया। ऐसे मलीन चित्त-व्यक्ति को यम-दूत मांति २ की यातनाएँ देकर उसके स्थूल शरीर में से प्राणों को हर कर ले जाते हैं। और इसी प्रकार जीव बार-बार कमी गर्म में और कमी यम-दूतों के वश होता है। अतः जीवन की अंतिम वेला में तो मनुष्य को अवश्य ही चेत जाना चाहिए। सद्गुरुधारण, उपदेश आदेश - श्रवण, मनन, गुरु सेवा अर्थात् गुरु-प्रदत्त मंत्र का निरंतर स्मरण, सद्ग्रंथावलोकन एवं सद्-कार्यों का आचरण करके अपने चित्त को शुद्ध, निर्मल बनाकर प्रमुप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

इस पत्रिका के सदस्य बनकर, बनाकर आप गुरुमहाराजकी सेवा करते हैं। इसमें विज्ञापन देकर और दूसरों से विज्ञापन लाकर आप सेवा करते हैं। समयावधिमें इस पत्रिका का शुल्क भेजना, अपनी परंपरा की एक प्रकारकी सेवा और साधना ही है।



पत्रावली

श्री नारायण कुटी न्यास
संन्यास आश्रम - देवास

१४-५-८३

श्री मकोडियाजी,

शुभ आशीर्वाद,

आपका पत्र प्राप्त हुआ। आपने लिखा है "अब अन्तिम एक महीने से मस्तक में नाद गुंजन हुआ ही करता है। और उस से मुझे वैचेनी होती है। नाद की मात्रा ज्यादा होती है, तब कान में बहरापन आ जाता है। क्रिया में हर घड़ी परिवर्तन होते रहते हैं। कण्ठ से मस्तक तक नाद गुंजन चालू ही रहता है। सांसारिक कार्य, कार्यालय के कार्य भी होते हैं, किंतु बोझस्वरूप प्रतीत होते हैं। कर्तव्य समझ कर सर्विस करता हूँ। मां शक्ति उस का साधन करवाती है जिस में अज्ञान के कारण रहस्य समझ में नहीं आता। हमेशा ही प्राण की गति शरीर में बूमा करती है। डाक्टर को दिखाया, इलाज करवाया। उन्होंने कहा—कान के अवयव में कोई क्षति नहीं है। क्या करूं, कुछ समझ में नहीं आता!"

आपके पत्र से ऐसा ज्ञात होता है कि अपनी क्रियाओं में उदय होने वाले नाद श्रवण से अत्यन्त दुःखी है। इसमें विचारणीय बात यह है कि आपके अन्तर में होने वाला नाद श्रवण, आप की ओर से किसी प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ का फल नहीं है। यह नाद श्रवण आप के चित्त में क्रियास्वरूप, अपने आप उदय होता है। आप तो केवल मात्र अन्तर में उदित, इन नाद श्रवण को सुनते अथवा देखते मर हों। साधक के चित्त की ऐसी स्थिति आ जाती है जब नाद श्रवण के सचित संस्कार उभर कर चित्त को

संरंगित कर देते हैं, तब न चाहते हुये भी अन्तर दृश्य, अन्तर नाद, इत्यादि देखने अथवा सुनने पड़ते हैं।

ये क्रियायें वास्तव में साधक की स्थिति आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देने में तथा क्रियाओं के माध्यम से चित्त को शुद्ध करने का महत् कार्य करती हैं। नाद भी शक्ति की एक क्रिया ही है। कोई भी कार्य यदि अपने आप, चैतन्य शक्ति के द्वारा सम्पादित होता है, तथा उसके करने में किसीभी चीज का कृत्रिम कृतित्वाभिमान नहीं होता तथा उसके स्थान पर जीव में दृष्टा भाव आ जाता है, तो वह क्रिया की कोटि के अन्तर्गत आता है। वास्तव में आन्तरिक नाद, जीव अपने प्रयत्न से करही नहीं सकता। वे तो स्थूल जगत में रोना, हंसना, चिल्लाना, गाना एवं स्पष्ट-अस्पष्ट आवाजें निकलाना, कर सकता है। किन्तु बिना कुछ किये घटित हुये अपने अन्तर की आवाजों को श्रवण नहीं कर सकता, इसीलिये योगदर्शन में इस नाद को दिव्य नाद की संज्ञा दी गई है। जब दृश्य जगत में एकदम नीरवता एवं शान्तता होती है। वायु के प्रवाहित होने, जल बहने, अथवा पक्षियों के चहचहाने की भी आवाज नहीं हो, यहां तक कि मनुष्य की अपनी स्वांस प्रस्वांस की गति इतनी हल्की हो गई हो कि ध्यान देने परभी वह सुनाई नहीं दे। उस समय यदि अपने अन्तर में पक्षियों के चहचहाने, ढोल नगाड़े अथवा शंख के बजने, बिजली के कड़कने, बादलों के गरजने एवं विभिन्न प्रकार के वाजों के बजने इत्यादि की आवाजें सुनाई देने लगे तो उसे नाद कहा जाये। यह नाद-श्रवण अत्यन्त उच्च कोटि की साधना है। जिसके लिये बड़े-बड़े योगी, ऋषि, मुनि लालथित रहते हैं। अथक प्रयत्नशील होते हैं किन्तु फिर भी इस स्थिति को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। इतना उच्च कोटि का साधन जो कि अत्यन्त

सोभाग्यशाली साधकों को प्राप्त होता है। संसारी जीव
 घबराना आरम्भ कर देता है, उन्हें अपने सांसारिक कार्य
 अति महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं और जब नाद श्रवण के कारण
 उसमें किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित होता है, तो वे
 घबरा उठते हैं। वैसे सामान्यतया शक्ति की क्रियायें स्थूल
 अथवा सूक्ष्म नाद श्रवण अथवा दृश्य दर्शन यदि संयमित हो
 अर्थात् साधक के काबू में हो तो जब उन की ओर लक्ष्य
 दिया जाता है, तभी वे प्रकट होती हैं। यही साधना में
 बैठने का महत्व है। क्रिया तो चौबीस घंटे चलती ही रहती
 है। किन्तु जब साधक क्रिया की ओर लक्ष्य कर के अपनी
 साधना में बैठता है तो अपने अन्तर में अप्रकट रूप में
 घटित हो रही क्रिया प्रकट हो जाती है। इसीलिये नित्य प्रति
 साधना में बैठना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है, जब
 साधक साधना में बैठता है, तो शक्ति की क्रियायें प्रकट एवं
 तीव्र हो जाती हैं। और जब उधर से लक्ष्य हटा कर, सांसा-
 रिक कार्यों में व्यस्त हो जाता है। क्रिया फिर मन्द-मन्द
 अप्रकट अवस्था में चली जाती है, इस सिद्धान्त के आधार
 पर आप की नाद क्रिया भी जब आप उधर लक्ष्य नहीं देते
 तो उसे घटित नहीं होना चाहिये। जब आप कार्यालय का
 कार्य करते हैं, सांसारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हैं
 अथवा व्यावहारिक जीवन व्यतीत करते हैं, तब आप का
 लक्ष्य नाद की ओर से हट कर बाहर जगत में स्थित होता
 है। तब नाद को प्रकट रूप में घटित होने का अर्थ यही
 माना जावेगा कि शक्ति की क्रिया आप के संयम से बाहर
 जा रही है। यह संयम मात्र मानसिक संयम होता है।
 जब मन क्रिया से हटा लिया जाता है तो क्रिया रुक जाती है।

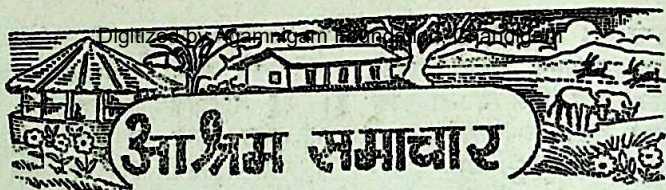
मैं तो आप के इस नाद श्रवण की बात पढ़कर आप को
 सोभाग्यशाली मानता हूँ। किन्तु आप हैं कि, उल्टे घबड़ा

रहे हैं। ^{Digitized by eGangotri} यह मानना आवश्यक है कि अपने व्यवहार में सावक को सामान्य रहना चाहिये, इस के लिये अपनी क्रियाओं पर मानसिक नियंत्रण आवश्यक है। यह मानसिक नियंत्रण या तो अपने आप अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, और या गुरु कृपा से। आप के गुरु महाराज कौन थे और इस समय वे जगत में विद्यमान हैं अथवा नहीं। मुझे ठीक से याद नहीं पड़ता, यदि आप के गुरु महाराज उपस्थित एवं आप को उपलब्ध हो तो आप उन से निवेदन कर के इस समस्या का निराकरण कर सकते हैं।

जहां तक आप के कानों में सुनने की खराबी की बात है, वहां तक मेरा ऐसा विचार है कि आप के कान में कोई खराबी नहीं है। मात्र ठण्डी के कारण कमी-कमी आप की श्रवण नली में कफ भर जाने से आप को श्रवण में असुविधा होती है। इसलिये कमी आप सुनते हैं, कमी कम सुनते हैं, तथा कमी विल्कुलही नहीं सुनते। यदि आपने उपचार करवाना ही है तो अपनी श्रवणनली में कफ को दूर करवाने का उपचार करवा लीजिये। डाक्टर आध्यात्मिक विषय को नहीं समझ सकता। जब आपको नाद श्रवण जोर से होता है, तब भी स्थूल जगत की आवाजें सुनने में आपको कठिनाई आ सकती है। किन्तु उस का उपाय हमने आप को बतला ही दिया है, कि इस क्रिया को आप संयमित करें।

गुरु जहां अनुग्रह कर के शिष्य की शक्ति को अन्तर्मुखी जाग्रत कर क्रियाशील बना सकते हैं, वे ही क्रिया शक्ति के कम कार्यशील होने पर कार्यशीलता की गति को तीव्र कर सकते हैं। तथा यदि क्रिया शक्ति की क्रियामें, अत्यन्त तीव्र संयम से बाहर हो जावे, तो उस की क्रियाशीलता को कम कर के, उसे संघटित भी कर सकते हैं—यह निग्रह कहलाता है। गुरु उसी को कहते हैं जो अनुग्रह और निग्रह दोनों में सक्षम हो। केवल निग्रह कर के शिष्य को उस के हाल पर छोड़ देना और कोई समस्या, उदय होने पर कुछ नहीं कर पाना गुस्त्व नहीं है, अतः आप तो अपने गुरु महाराज से सम्पर्क साध कर इस समस्या का निराकरण करें।

--शुभाचिन्तक



श्री सद्गुरुदेव की कृपा से गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी ब्रह्मलीन श्री १०८ श्री स्वामी विष्णुतीर्थजी महाराज की १५वीं वार्षिक पुण्य-तिथि आश्विन कृष्ण ६, सं. २०४१ विक्रमी तदनुसार रविवार दिनांक १६-९-८४ को योग श्री पीठ आश्रम, मुनिकी रेती (ऋषिकेश) में सोल्लास, सानन्द मनायी गयी।

विभिन्न प्रदेशों से अनेक साधकगण इस उत्सव में सम्मिलित थे। सुबह से ही चहलपहल रही। परंपरागत गुरुओं के फोटों का शास्त्रविधि पूजन हुआ। दुपहर तक यह कार्यक्रम चलता रहा।

ऋषिकेशके अलग अलग स्थानों के आश्रमों से आये हुए साधु संतोंको भंडारे में भोजन कराया गया। श्लोकों का गान हुआ। बड़ा आनन्द आया। दूसरे दिन श्री योगानंदजी महाराजकी पुण्यतिथि पर विज्ञान - भवन ऋषिकेश में ऊपर की तरह भण्डारा किया गया। पूजन आदि हुआ! योगश्री पीठ में आये हुए साधक-गण के साथ पूज्य महाराज श्री पूजन तथा भोजन में सम्मिलित हुए।

शामको ग्वालियर के ब्रह्मलीन १०८ श्री मानसिंहजी महाराज के आश्रम योग निकेतन में से विज्ञान भवन में आये हुए साधकगण और उन के उत्तराधिकारी भजन कीर्तन करते हुए योगश्री पीठ पधारे। सचमुच आध्यात्मिक आनंद प्राप्त हुआ। गुरुदेवने सब को प्रसाद बाँटा और आशीर्वाचन कहे।

तीनचार दिनके समारोह के बाद सब अपने अपने स्थान पर गये। Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

— व्यवस्थापक योगश्रपीठ ऋषिकेश

२९-१०-८४ को गुरुजी अहमदाबाद पधारे। हर्षदभाई श्रीहर्षदभाई मिश्रा के घर शाहीबाग में ठहरे थे। वहाँ आचार्य श्री सुरेशभाई ने उन का मन्त्र स्वागत किया। समारोह में मंडप बाँधा गया और सभी साधकों को और गुरुजी प्रेमियों को भोजन पर न्यौता दिया। आपस में गुरु के सानिध्य में सब मिले। बड़ा आनंद प्राप्त हुआ। ३-११-८४ को गुरुदेव देवास पधारे।

WITH BEST COMPLIMENTS FROM

M/s AMRUT CHEMICALS

218/220 Kapoorvala Building,
Mezanine Floor, Samuel Street,
Bombay-400003.

Tel.: 32 84 92
33 53 15

Cable:
CHHOTABABU.

DISTRIBUTORS FOR :

MANDELIA CHEMICALS

Birlagram, Naga M. P.

- FOR -

**CALCIUM CHLORIDE, FERRIC CHLORIDE
& CHLORINATED PARAFFIN WAX.**



परमपूज्य गुरुजी शिवोम् तीर्थजी महाराज का प्रवास कार्यक्रम

तारीख	स्थान	सिरनामा
८-११-८४	देवास से बावई	श्री शिवोम् कुटिर पोस्ट- बावई-देवास (म. प्र.)
१६-११-८४	बावई से मोपाल	काशीरामजी शर्मा इ।७एम. २४९ एविया कोलोनी ११ नंबर बस स्टोप के पीछे, मोपाल
१९-११-८४	मोपाल से रायसेन	स्वामी शिवोम्तीर्थ आश्रम, मुखरजी नगर, रायसेन (म. प्र.)
२५-११-८४	रायसेन से सागर	डॉ. एस. एन. शुक्ल शांति चिकित्सालय, ५, सीवील लाइन्स, सागर (एम. पी.)
२८-११-८४	सागर से इन्दौर	सूरज प्रकाश दुसाद, १, डायमंड कोलोनी, न्यू पलासिया इंदौर (म. प्र.)
३-१२-८४	इंदौर से उज्जैन	
६-१२-८४	उज्जैन से देवास	
१६-१२-८४	देवास से अमलनेर	बी. एल. शुक्ल, रिटायर्ड फोन इन्स्पेक्टर, लक्ष्मीपुरा. अमलनेर जिला. जलगाँव
१६-१२-८४	पारोला	
२३-१२-८४	अमलनेर	
२४-१२-८४	अमलनेर से नासिक	तुलसी भवन, पंचवटी कारंजा, पंचवटी, नासिक (महाराष्ट्र); C/o प्रभाकर श्रीराम वारे २६३, फावडे लेन, नासिक पीन-४२२००१

१-१-८५ से बम्बई

C/o ए. सी. पटेल,

११ अशोक, मदनमाला रोड,
माटुंगा, बम्बई ४०० ०१९
फोन ४७५०२० पी. पी.

१२-१-८५ बम्बई - पुणे द्वारा श्री वासुदेव निवास
४२/१७ एरंडवन, कर्वे

१३-१-८५ पुणे मुक्काम रोड-पुणे ४११००४.

१६-१-८५ (महाराष्ट्र)

१७-१-८५ पुणे - अहमदनगर द्वारा श्री सी. पी. दुसाद,
जनरल मैनेजर,

१७-१-८५ एवं अहमदनगर क्रॉस्टन ग्रीन्डज ३ पत्रकार

१८-१-८५ बसाहत, सावेडी रोड,
अहमदनगर (महाराष्ट्र.)

पिन ४१४००१ फोन ४४००

१९-१-८५ अहमदनगर से देवास के लिये प्रस्थान

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

—: स्वामी विष्णुतीर्थ शिक्षा प्रतिष्ठान-बम्बई :—

श्रीमान् महोदय,

आप की ओर से इस पत्रिका का निम्नलिखित शुल्क अभी तक अप्राप्त है। कृपया धनादेश से शीघ्रातिशीघ्र भेज दें। आप का निम्नलिखित सदस्य क्रम म. ओ. के नीचे के भाग में नोंध पर लिखें।

सन्—१९८१—८२—८३—रूपये—

15/-

„—१९८४.....” —

10/-

कुल मिलाकर रु.

25/-

आप का
सामा. सदस्य
क्रमांक

82

धनादेश भेजने का पता :-

मनहरलाल एम. पंड्या

व्यवस्थापक :- देवात्मशक्ति

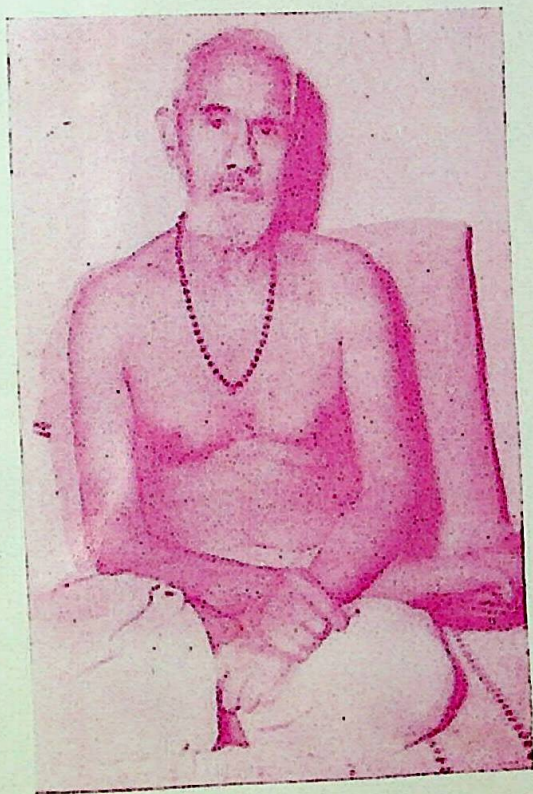
F/91-गौतम नगर, एल. टी. मार्ग,

बोखिली (पश्चिम), मुंबई-४०० ०९२.

ता. क. यदि हो सके तो नये वर्ष (१९८५) का शुल्क रु. १०/- भी साथ में भेजें।

121
101
121

123



॥ ब्रह्मलीन श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ॥

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh

Digitized by Agamnigam Foundation, Chandigarh